

ॐ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गी जयतः ॥

 <p>मांगवत्-पत्रिका</p>	<p>स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरोचने ।</p> <p>भोगादेव यदि रति अस पूर्व हि केषलम् ॥</p> <p>अहैतुक्यप्रतिहता यथात्मा सुप्रसीदति ॥</p>
<p>संख्या: ५२० मात्रा: एकांश प्रकाशन दिन: ३१ अक्टूबर १९४६</p>	
<p>वर्ष २ { गौराब्द ४७०, मास—पद्मनाभ २७, वार—अनिरुद्ध } संख्या ५</p> <p>बुधवार, ३१ आश्विन, समवत् २०१३, १७ अक्टूबर १९४६</p>	

श्रीकार्तिक-ब्रत-माहात्म्यम्

ब्रतन्तु कार्तिके मासे यदा न कुरुते गृही ।
 इष्टापूर्त्त वृथा तस्य यावदाहूतनारकी ॥
 इष्टा च वहुभिर्यज्ञैः कृत्वा आद्वशतानि च ।
 स्वर्गं नाप्रोति विप्रेन्द्र अकृत्वा कार्तिके ब्रतम् ॥
 यहत्तद्व परं जप्तं कृतद्व सुमहत्तपः ।
 सर्वं विफलतामेति अकृत्वा कार्तिके ब्रतम् ॥७॥

यदि गृहस्थ व्यक्ति कार्तिकमासमें ब्रतका आचरण नहीं करे तो उसका इष्टापूर्त्त (कुँआ-तालाब सुदवाना) अथवा यज्ञकर्म विफल हो जाता है । वह महाप्रलय तक नरकमें वास करता है ॥

हे विप्रराज ! जो कार्तिक मासमें ब्रत न रखकर अनेक यज्ञ और सैकड़ों आद्व करे तथापि वह स्वर्गको प्राप्त नहीं होता ॥

जो कुछ दान किया है, जो कुछ जप किया है और जो कुछ महान् तप किया है, कार्तिकमें नियमोंका पालन नहीं करनेसे सब कुछ व्यर्थ हो जाता है ॥७॥

नियमेन विना चैव यो नयेत् कार्तिकं मुने ।
चातुर्मास्यं तथा चैव ब्रह्माह स कुलाधमः ॥८॥

न गृहे कार्तिके कुर्याद्विशेषेणातु कार्तिकम् ।
तीर्थे तु कार्तिकी कुर्यात् सर्वं यत्नेन भाविनि ॥९॥

विष्णोः पूजा कथा विष्णोऽवैष्णवानाञ्च दर्शनम् ।
न भवेत् कार्तिके यस्य हन्ति पुण्यं दशाविद्कम् ॥१४॥

मेरुतुश्यसुवर्णानि सर्वदानानि चैकतः ।
एकतः कार्तिको वत्स सर्वदा केशवप्रियः ॥१७॥

न कार्तिकसमो मासो न कृतेन समं युगं ।
न वेदसदृशं शास्त्रं न तीर्थं गङ्गया समम् ॥२१॥

प्रवृत्तानाञ्च भद्र्याणां कार्तिके नियमे कृते ।
अवश्यं कृष्णाख्यत्वं प्राप्यते मुक्तिं शुभम् ॥

त्राघणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा मुनिसत्तमः ।
वियोग्निं न ब्रजत्येव ब्रतं कृत्वा तु कार्तिके ॥

कार्तिके मुनिशार्दूलं सशक्त्या वैष्णवं ब्रतं ।
यः करोति यथोक्तन्तु मुक्तिस्यकरे स्थिता ॥२६॥

प्रदक्षिणाञ्च यः कुर्यात् कार्तिके विष्णुसद्यनि ।
पदे पदेऽश्वमेधस्य फलभागी भवेन्नरः ॥

हे मुने ! जो व्यक्ति 'कार्तिक मास' अथवा चातुर्मास्य ब्रतका नियमपूर्वक पालन नहीं करता है, वह कुलाङ्गार ब्रह्माहत्याका भागी होता है ॥८॥

हे कामिनि ! कार्तिक मासमें खासकर कार्तिक ब्रतका पालन घर पर नहीं करना चाहिये । अतिशय यत्नपूर्वक तीर्थोंमें ही कार्तिक ब्रतका पालन करना चाहिये ॥९॥

कार्तिक मासमें जो विष्णुकी पूजा नहीं करता, हरि-कथा (का श्रवण और कीर्तन) नहीं करता तथा वैष्णवोंका दर्शन नहीं करता, उसके सब पुण्य नष्ट हो जाते हैं ॥१४॥

हे वत्स ! एक ओर पर्वतके समान सुवर्ण और समस्त प्रकारके दान हैं तथा दूसरी ओर केशवका अत्यन्त प्रित्य कार्तिक मास है ॥१७॥

हे ब्रह्मान् ! कार्तिक मासके समान कोई मास नहीं, सत्ययुगके समान युग नहीं, वेदोंके समान कोई शास्त्र नहीं और गङ्गाजीके समान कोई तीर्थ नहीं है ॥२१॥

जिन-जिन वस्तुओंका सब समय भोजन किया जाता है, कार्तिक मासमें यदि उसमें कुछ कमी कर दी जाय तो अवश्य ही परम मङ्गलमय श्रीकृष्णका सारूप्य लाभ किया जा सकता है ॥

हे मुनिवर ! त्राघण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र भी यदि कार्तिक-ब्रत करे तो वह खराब योग्नि कभी नहीं प्राप्त कर सकता है ॥

हे मुनि-शार्दूल ! जो कार्तिक मासमें उक्त वैष्णव ब्रतका पालन करता है, मुक्ति उसके करतलगत हो जाती है ॥२६॥

जो मनुष्य कार्तिक मासमें विष्णुके मन्दिरकी प्रदक्षिणा करता है वह कदम-कदम पर अश्वमेध यज्ञके फलका भागी होता है ॥

गीर्तं वाद्यञ्च नृत्यञ्च कार्तिके पुरतो हरे :
यः करोति नरो भक्त्या लभते चाक्षयं पदम् ॥३२॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य कार्तिके केशवाग्रतः ।
शास्त्रावतरणं पुरुणं ओतञ्चञ्च महामुने ॥३३॥

सर्वान् धर्मान् परित्यज्य इष्टापूर्तीदिकान्नरः ।
कार्तिके परया भक्त्या वैष्णवैः सह संबसेत् ॥३४॥

यः पठेत् प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं मुने ।
अष्टादशपुराणानां कार्तिके फलमाप्नुयात् ॥३५॥

कार्तिके भूमिशाथी यो ब्रह्मचारी हृविष्यमुक् ।
पलाशपत्रं भुज्जानो दामोदरमथाच्येत् ॥
सः सर्वपातकं हित्वा वैकुण्ठे हरिसन्निधौ ।
मोदते विष्णुसदृशो भजनानन्दनिर्वृतः ॥३८॥

विष्णोः शिवस्य वा कुर्यादालये हरिजागरं ।
कुदर्यशिवत्यमूले वा तुलसीनां वनेषु च ॥
आपदगतो यदाप्यम्भो न लभेत् सवनाय सः ।
व्याधितो वा पुनः कुर्याद्विष्णोर्नामापमार्जनम् ॥४३॥

जो कार्तिक मासमें हरिके आगे भक्तिपूर्वक गायन,
वाद्य और नृत्य करता है वह अक्षय पद लाभ
करता है ॥३२॥

हे महामुने ! समस्त धर्मोंका परित्याग कर
कार्तिक मासमें भगवान् केशवके आगे पुण्यस्वरूप
शास्त्रोंका पाठ अवण करना चाहिये ॥३३॥

इष्टापूर्त—कुँआ, तालाब आदि सुदवाना तथा
यज्ञ आदि कर्मोंका परित्याग कर मनुष्यको कार्तिक
मासमें परम भक्तिके साथ वैष्णवोंका सङ्ग करना
चाहिये ॥३४॥

हे मुनि ! जो कार्तिक मासमें यत्पूर्वक प्रतिदिन
भागवतके श्लोकोंका पाठ करता है, उसे अठारहाँ
पुराणोंके पाठका फल प्राप्त होता है ॥३५॥

कार्तिक मासमें भूमिपर शयन करनेवाला, ब्रह्मचर्य
धारण करनेवाला तथा पलाशके पत्तोंपर हृविष्य
भोजन करनेवाला जो व्यक्ति श्रीदामोदरका अर्चनं
करता है, वह समस्त पापोंको त्यागकर विष्णुके समान
हो जाता है तथा भजनानन्दमें निमग्न होकर वैकुण्ठ-
में श्रीहरिके निकट आनन्द भोग करता है ॥३८॥

विष्णु-मन्दिर, शिव-मन्दिर, या पीपलके वृक्षकी
जड़में अथवा तुलसीके बनोंमें हरि-जागरण (रातमें
जागरण) करे । यदि आकर्तमें पड़ा हुआ मनुष्य
स्नानके लिये जल न पा सके अथवा रोगी हो तो
भगवान् के नामसे ही अपमार्जन कर ले ॥४३॥

—श्रीहरिभक्तिविलासके सोलहवें विलाससे

आलवारोंकी जीवनी

(६) श्रीशठकोप सूरि [नम्मालवर]

कर्म और ज्ञानसे भक्तिकी प्राचीनता

कुछ लोगोंका स्थान है कि कलिके प्रारम्भमें ब्राह्मण धर्मकी अवनतिके साथ-साथ वैदिक वैष्णव-धर्म भी बौद्ध-विष्णवसे प्रभावित होकर मृतप्राय हो चुका था। बौद्धलोग वैदिक कर्मोंके विरुद्ध खड़े होकर सामाजिक ब्राह्मण-धर्मको बहुत कुछ अंशों तक निस्तेज करनेमें सफल होनेपर भी वैष्णव-धर्म विरकालसे अवाधगतिसे चलता आ रहा है। कर्मी कुमारिल भट्ट और ज्ञानी शंकराचार्यके बहुत पहलेसे ही सनातन धर्मकी अमृतमयी गाथाएँ भक्तोंका आनन्दवर्द्धन करती आ रही हैं। वेदोंके पारमार्थिक अंशोंकी मर्यादा सर्वदा ही अज्ञात हरी है। विष्णुचित्त और योगीन्द्र आदि कतिपय महात्माओंने वैदिक प्रथाओंका लोक-समाजमें अधिक प्रचार करनेके लिए उनके मंत्रोंको द्राविण अक्षरोंमें रूपान्तर किया था।

बौद्धधर्मका प्रचार

आर्यवर्णके गगनमें बौद्ध-मेघमाला चारों ओर व्याप होकर क्रमशः विन्ध्यपर्वतके दक्षिणकी ओर अग्रसर हुई। दक्षिणावर्तका अवलभ्यन कर वह सुदूर दक्षिणमें पहुँची। वहाँ भी वह अन्तर्हित न हुई, बलिक दक्षिणी प्रान्तोंको पीछे छोड़ती हुई समुद्र पार सिंहल द्वीपमें पहुँचकर उसे बौद्धवारिसे सावित कर दिया।

शठकोप सूरिकी कृपासे रामनुजाचार्य द्वारा बौद्धवाद, कर्मवाद और मायावादके मार्गमें रुकावट

भारतके इस भयंकर दुर्दिनमें करुणावरुणालय भगवान्‌से भगवद्भक्तिकी रक्षाके लिये उचित व्यवस्था

की थी। जीवोंके सौभाग्यसे भक्तिका वह कोमल सूत्र बौद्धमत, कर्म-सिद्धान्त और मायावादरूप प्रचलित बौद्धमतके प्रचण्ड भारसे छिन्न-भिन्न होनेके बदले समप्रभारतवर्षमें प्रधानतः उत्तर भारतमें विस्तृत हो गया। उस बौद्धवादकी काली घटनाओंसे धोर अङ्गेरी रात्रिमें दक्षिण देशके दक्षिण कोनेमें एक नक्षत्र उदित हुआ था। उसीकी क्षीण प्रभामें दाक्षिणात्य-शशांक श्रीरामानुज आचार्य वैष्णव-जगत्-का उपकार करनेमें समर्थ हुए थे। हम इस समय उसी अङ्गात नक्षत्रका अनुसरण कर रहे हैं।

वंश-परिचय

कावेरीके दक्षिणमें पूर्व-सलिला ताम्रपर्णी प्रवाहित होती है जो पाण्ड्य देशके पायोंको धो-धोकर समुद्रमें बहा ले जाती है। इसी ताम्रपर्णीके तट पर कुरिका नामक एक नगर था। वहाँ विभूतिनाथेन्द्र नामक एक सौभाग्यशाली शुद्र रहते थे। उनके पुत्रका नाम धर्मघनु था। धर्मघनुके पुत्र चक्रपाणि और पौत्र अच्युत हुए। अच्युतके पुत्र सुमति और पौत्र फुल्कार हुए। फुल्कार के पुत्रका नाम कारि था। ये कारि ही श्रीशठकोपके पिता थे।

जन्मस्थान और माता-पिता

पाण्ड्य प्रदेशके परिचममें समुद्रके किनारे केरल वेश है। वर्तमान समयमें केरल प्रदेशको त्रिवाङ्ग राज्य कहते हैं। महेन्द्रपर्वत केरल और पाण्ड्य—दोनों प्रदेशोंको दो भागोंमें विभक्त करता है। जमदग्निके पुत्र परशुरामजीने कुछ दिनोंतक महेन्द्रपर्वत पर निवास किया था। उसी समयसे वहाँ ब्राह्मण आदि वर्णोंका वास अब भी देखा जाता है। केरल

देशमें किसी वैष्णवके घरमें नाथ-नाथिकाका जन्म हुआ था। पुराने अपने पुत्रका विवाह इस वैष्णव-कन्या नाथ-नाथिकाके साथ कर दिया था। इसी नाथ-नाथिकाके गर्भसे महानुभव शठकोपने जन्म लिया था। शठकोप दासके शठारि, कारिमार, वकुला-भरण आदि और भी अनेक नाम हैं।

शैशव

शठकोप जन्मसे ही गूँगे थे। उनकी हष्टि-शक्ति-का भी विकास न हुआ था। मूँक और अन्ध होने के कारण माता-पिता वडे चिन्मित हुए। उन्होंने उस बालकको एक इमलीके बृक्षके नीचे रख दिया। सोलह वर्षकी अवस्था तक बालक शठकोपने उसी इमलीके बृक्षके नीचे अचेतन पदार्थकी तरह व्यतीत किया। साधारण लोग उसे बिलकुल जड़ पिण्ड समझते थे।

विष्वकूसेनके अवतार शठकोपका

अनिर्वचनीय तेज

शठकोपका चेतन धर्म संकुचित होने पर भी उनके शरीरसे एक अनिर्वचनीय तेज निकलता था। उनके तेजकी तुलना किसी प्राकृति-तेजसे नहीं की जा सकती। दक्षिण देशकी दक्षिणी सीमापर वास करने वाले जड़प्राय शठकोपके शरीरसे वहिर्गत वह तेज विन्ध्यपर्वतको भेदकर आर्यावर्तमें भी देखा जाने लगा। कहा जाता है—शठकोप विष्वकूसेनके अवतार थे; इसीलिए उनके अंगोंसे अप्राकृत ज्योति निकलती थी। प्राकृत जीवोंमें ऐसी ज्योति संभव नहीं है।

मधुर-कवि द्वारा ज्योतिका दर्शन और उसीका अनुसरण कर शठकोप सूरिका दर्शन प्राप्त करना

मधुर कवि एक द्राविड ब्राह्मण थे। वे शास्त्रोंका विधिवत् अध्ययन समाप्त कर तीर्थ-भ्रमणके लिए निकल पड़े। धूमते-धामते वे एक बार अयोध्यानाथ-के दर्शनोंके लिए साकेतपुरी पहुँचे। वहीं पर एक दिन उन्होंने दक्षिण दिशामें एक अलौकिक तेज़-पुञ्ज देखा। वे कुतूहलवश उस स्थानकी स्वोजमें

चल पड़े, जहाँसे वह तेज़पुञ्ज चमक रहा था। धीरे-धीरे वे दक्षिणकी ओर बढ़ते गये। किन्तु जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते, ज्योति भी वैसे-वैसे दक्षिणकी ओर सरकती हुई दीख पड़ती। अंतमें वे ताम्रपर्णीके तट पर स्थित कुरका नगरीमें उपस्थित हुए। वहाँ उन्होंने इमलीके बृक्षके नीचे जड़ पदार्थकी तरह पड़े हुए शठकोपको देखा।

ब्राह्मण द्वारा शठकोपकी परीक्षा और शिष्य होना

शठकोपको देखकर पहले तो वे कुछ हताशसे हो गए। किन्तु थोड़ी देर बाद ही उनको उस ध्यान-वस्थित बालकसे बातचीत करनेकी तीव्र उत्कंठा हुई। उन्होंने शठकोपके गूँगेपन और अन्धेपनकी परीक्षा करनेके लिए पत्थरका एक बड़ा टुकड़ा उनके आगे जोरसे पटक दिया। जोरोंसे शब्द हुआ जिसे देखने-के लिए शठकोपने अपनी दोनों आंखोंको खोला। इसे देखकर मधुर कवि को बड़ी प्रसन्नता हुई।

अब उनकी प्रज्ञाकी परीक्षा करनेके लिए मधुर कविने पूछा—‘देव ! यदि जीव प्राकृतिके उदरसे जन्मता है तो वह क्या खाता है और कहाँ रहता है ?’ शठकोपने उत्तर दिया—‘जीव ‘तद्वत्सु’ खाता है और वही रहता है।’ अपने प्रश्नकी मीमांसा सुनकर उन्होंने समझ लिया कि ‘वकुलाभरण’ सर्वज्ञ हैं और काल बिलम्ब न कर उनके शिष्य हो गए। कुछ दिनों तक गुहदेवके पास रहने पर एक दिन उन्होंने गरुड़वाहन भगवान् श्रीहरिको प्रत्यक्षरूपमें ‘वकुलाभरण’ (शठकोप) के निकट दर्शन किया।

रचित-ग्रन्थ

विष्णुचित योगीन्द्रने ‘द्राविण-आम्राय’ की रचना कर दक्षिणमें वैदिक-धर्मकी बहुत सहायता की थी। इधर शठकोपने वेदोंके उत्तर भागको द्राविण भाषामें प्रकाशित किया। मधुर कवि कारिमारके (शठकोपके) द्वारा लिखित वेदोंका अर्थ पढ़कर कुछ ही दिनोंमें वेदोंमें पारंगत हो गए। शठकोप द्वारा रचित गाथाओंका आदर कमशः बढ़ने लगा। इन्होंने दक्षिणके बहुतसे श्रीविप्रहृष्टोंका स्तव लिखा। उनके पद आज भी वहाँके मंदिरोंमें तथा धार्मिक उत्सवोंमें बड़े

प्रेमसे गाए जाते हैं। इस तरह विभिन्न स्तरोंकी रचना कर इन्होंने दक्षिणके वैष्णवोंका बहुत उपकार कर ३५ वर्षकी अवस्थामें इहलोककी लीला समाप्त की थी।

श्रीशठकोपकी मूर्चिकी पूजा; श्रीसम्प्रदायके आदि गुरु

श्रीशठकोपके वैकुण्ठगमनके बाद उनके शिष्य मधुर कविने गुरुकी मूर्चिका निर्माण करवाया और उनकी विधिवत् पूजाका बन्दोबस्तु किया। शठकोप की पाणिडत्य-प्रतिभा कुछ ही समयमें चारों ओर फैल गयी। कुछ दुष्ट लोगोंने ईर्ष्याके कारण शठकोपकी सूक्षियोंको नष्ट करनेका भी प्रयास किया था। शठ-

कोप दास अर्थात् नम्मालवर श्रीसम्प्रदायके आदि गुरु माने जाते हैं।

श्रीशठकोप-रचित 'वेदार्थ-चतुष्टय' और 'अर्थ-पञ्चक' श्रीसम्प्रदायका प्रामाणिक आदर्श है।

शठकोप द्वारा रचित ऋग्वेदार्थ—'श्रीवृत्ताल्य' के नामसे प्रसिद्ध है। इसमें एक तौ गाथाएँ हैं। यजुर्वेदार्थमें कुल सात गाथाएँ हैं, जो 'अशिर्षाल्य' के नामसे प्रसिद्ध हैं। अथर्वार्थमें ८७ और सामार्थमें १००० गाथाएँ हैं। इन्हीं वेदार्थोंसे श्रीशठकोप सूरिने 'अर्थ-पञ्चक' को प्रकाशमें लाया था।

—ॐविष्णुपाद् श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

भागवत—वन्दना*

भागवत भगवत रूप तिहारो ।

जग महँ भटकत दरसन दीन्हे अब मिलि गयो सहारो ॥१॥
भयो सनाथ सरन तथ आयो और नहीं रखवारो ।
पद-पदुमनि महँ पर्यो पतित प्रभु पकरो चाँद उवारो ॥२॥
मातु पिता गुरु सरवस ही हरि और न हित् हमारो ।
असरन सरन विरुद सुनि पकर्यो दीन उधारन द्वारो ॥३॥
अबतक अगनित अधम उधारे अब जा पतितहि तारो ।
सफल होहि ब्रत नियम कथा प्रभु बाधा-विघ्ननि टारो ॥४॥

—श्रीप्रसुदत्तजी ब्रह्मचारी

* श्रीब्रह्मचारीजी १०८ खण्डोंमें भागवती कथा लिख रहे हैं, यह ६३ वें खण्डका पद है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

[एवं-प्रकाशित वर्ष २, संख्या ४, पृष्ठ ३६७ से आगे]

शुष्क-वैराग्य नीरस होनेके कारण वैष्णवताके लिए हानिकारक है

संसारसे विरक्ति होनेपर वैराग्य होता है—सत्य है, परन्तु विरक्ति जब अकेली होती है तो उसे शुष्क वैराग्य कहा जाता है। संसारके प्रति विरक्त होने पर भी यदि किसी मनुष्यको समस्त प्राणियोंके प्रति दया और कृष्णके प्रति निर्मल प्रेम-भक्ति न हुई तो वैसा वैराग्य चिल्कुल नीरस है। इस विषयमें बहुतोंको भ्रम हुआ करता है। कोई-कोई साधनमें प्रवीण होने पर भी समस्त प्राणियोंके प्रति दया करना तो दूर रहा, उनका कल्याण कैसे हो—इस विषयपर विचार करना भी गुनाह समझते हैं। किन्तु इससे उनकी वैष्णवताको भारी हानि पहुँचती है—स्वीकार करना होगा। इसी भावको श्रीमद्भगवत्के ‘ब्रह्मस्तोत्र’में कितने सुन्दर ढंगसे व्यक्त किया गया है,—

नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारै—
रात्रधितः सुरगणौहृदि बद्धकामैः।
यत् सर्वभूतदययासदलभ्ययैको
नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा ॥
(श्रीमद्भा० ३।१।१२)

ब्रह्माजीके ये शब्द अत्यन्त गम्भीर और महाव-पूर्ण हैं। इन थोड़े ही शब्दोंमें समस्त वैष्णव-तत्त्वोंको गागरमें सागरकी तरह भर दिया गया है। इस श्लोककी ठीक-ठीक व्याख्या होने पर हमारा आजका उद्देश्य भलीभाँति सफल हो जायगा। अतएव स्थिर-चित्तसे इसपर विचार करें। श्लोकका बाक्यार्थ यह है कि भगवान् समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं तथा उन सबके परम हितैषी—वन्धु हैं। इसलिए यदि देवगण भी हृदयमें तरह तरहकी

कामनाएँ रखकर भाँति-भाँतिकी विपुल सामग्रियोंसे भगवान्की पूजा करते हैं तो उससे वे उतने प्रसन्न नहीं होते, जितने समस्त प्राणियोंपर दया करनेसे होते हैं। किन्तु वह ‘सर्वभूत-दया’ असत् पुरुषोंको अलभ्य है अर्थात् सत्युरुषोंको ही सुलभ है।

‘बद्धकाम’ और ‘आराधना’ शब्दोंके तात्पर्य

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्बर्गको प्राप्त करनेके लिए जो कामनाएँ होती हैं, उन्हें इस श्लोकमें ‘काम’ कहा गया है। यही काम जिसके हृदयमें बद्धमूल होता है, वह ब्रह्मादि देवता भी क्यों न हो, उसके विविध प्रकारके उपकरणोंसे पूजा द्वारा भी भगवान् अधिक प्रसन्न नहीं होते। हृदयमें कपटता रखकर भी तरह-तरहके उपकरणोंसे भगवान्की पूजा की जा सकती है, किन्तु उससे कुछ उपकार होनेकी संभावना नहीं—यह ध्रुव सत्य है। इसका कारण यह है कि भगवान् अन्तर्यामी हैं। अतएव वे वास्तविकसे विचार नहीं करते। वे तो सर्वदा साधकोंकी अन्तर्वृत्तिको ही लक्ष्य करते हैं। परन्तु कपटता दूर कर-सरल होकर सकामभावसे कोई व्यक्ति विविध उपकरणोंसे भगवान्की पूजा करे तो भी भगवान् उससे उतने प्रसन्न नहीं होते। ‘आराधना’—शब्द अन्तर्वृत्तिवाचक और वाह्य-निषेधक है। अतएव ‘आराधना’—शब्दके प्रयोगद्वारा यहाँ कपटताका निषेध किया गया है।

‘नातिप्रसीदति’ का तात्पर्य

‘अधिक प्रसन्न नहीं होते’—इस बाक्यका तात्पर्य यह है कि सकाम भावसे भजन करने पर भी भगवान् प्रसन्न होते हैं—कामनाओंके अनुरूप फल देते हैं तथा

कभी-कभी सकाम भक्तोंके हृदयमें सच्चा वैराग्य भी पैदा कर देते हैं।

अकामः सर्वकमो वा मोक्ष-कामो उदारधीः ।

तीव्रेण भक्ति-योगेन यजेत् पुरुषं परम् ॥

[श्रीमद्भा० नृ० १०]

—कोई भी उदार बुद्धि-मनुष्य,—वह पहले चाहे अकाम हो, समस्त कामनाओंसे युक्त हो अथवा मोक्ष काम हो, उसे तीव्र भक्तियोगके द्वारा केवल परम पुरुष भगवान्‌की आराधना करनी चाहिए।

किन्तु ध्यान देनेकी बात यह है कि समस्त प्राणियोंके प्रति दयाके द्वारा जो भगवान्‌की आराधना की जाती है, उससे भगवान्‌को जितनी प्रसन्नता होती है, उतनी उन्हें कामनायुक्त आराधनासे नहीं होती है। अकाम, सर्वकाम अथवा मोक्षकाम होकर जो लोग भगवान्‌की आराधना करते हैं, उनकी आराधना पर्याप्त प्राप्त नहीं करती। उनका आवागमन (पुनः पुनः जन्म मरण) चालू रहता है। किन्तु कर्म-योग-और ज्ञानयोगकी तरह भक्तियोग कभी विफल नहीं होता। अतएव स्वार्थमूलक भक्तियोगका कुछ फल होता है और वह फल है—निःस्वार्थभावसे सब प्राणियोंके प्रति दयाका भाव उदय होना। स्वार्थ-भक्ति भक्तिवृक्षका वीजस्वरूप है। अतएव समय आने पर वही पवित्र बीज अंकुरित होकर विराट् वृक्षका रूप धारण कर लेता है तथा भगवन्‌प्रेम रूप उत्तम फल प्रदान करता है। स्वार्थ-भक्ति संकीर्ण होती है। अतएव जब इसके आयतनमें विकाश होता है, तभी ‘सर्वभूत-दया’ रूप भक्तिका उदय होता है। सकाम भक्त जब कोई कामना करता है, तब विज्ञ परमेश्वर उसे अहं जानकर अपने चरणोंका आश्रय प्रदानकर उसकी स्वार्थपरताको दूर कर देते हैं।

समस्त प्राणियोंके प्रति दयाका होना— भक्तिका लक्षण है

समस्त प्राणियोंके प्रति दयारूपी भक्ति ही जीवका स्वभाव है, अतएव विरक्त पुरुषोंका वही प्राप्य है। परमेश्वरके प्रति जितनी ही अधिक हृद भक्ति होती है। जीव उतना ही अधिक कृतार्थ हो जाता है। समस्त

प्राणियोंके प्रति दया होना भक्तिका लक्षण है। एक जीव दूसरे जीवके प्रति दया क्यों करता है? इसका निगद तत्त्व अनुसंधाना करनेसे ऐस प्रतीत होता है कि कृष्ण-भक्ति ही इसका मूल हेतु है। परमेश्वर समस्त जीवोंके सुहद् और अन्तरात्मा रूपमें विराजित हैं। अतएव भगवान्‌के प्रिय जीवोंके साथ हमारा एक नित्य सम्बन्ध है। जैसे कृष्ण-प्रेम ही जीवका स्वभाव है, वैसे ही कृष्णके जीवोंके प्रति प्रेम और भ्रातृत्व-मित्रता भी हमारा स्वाभाविक कार्य है। अतएव दूसरे-दूसरे समस्त जीवोंकी कल्याण-कामना और उसके लिए कोई चेष्टा न कर हमलोग भगवान्‌को जो उपासना करते हैं, वह असम्पूर्ण होती है।

अब यह विचारणीय है कि इन सिद्धान्तोंके साथ वैराग्य धर्मका किस प्रकार मेल हो सकता है? अगर हम विवेचना करें तो देखेंगे कि जगत्‌के जीवमात्रके नित्यमंगलकी चिन्ता करना और इस विषयमें विशेष रूपसे चेष्टा करना हमारा कर्त्तव्य है। और जीवोंका कल्याण करना जब हमारा कर्त्तव्य होता है, तब हम संसारमें अलग हो कैसे रह सकते हैं? त्रितापकी उचाला से भुलसे हुए जीव वन और पर्वतकी कन्द्राओंमें गुनियोंके पास दवाको खोज करनेके लिए नहीं जाते। क्योंकि वे इस बात पर कठई विश्वास नहीं करते कि उनको कोई रोग भी है। ये लोग अपनेको पूर्ण स्वस्थ मानते हैं और कहते हैं—हमें रोग कहाँ? हमीलोग तो खुले दिनमें गृहमेत्र याग कर (वैवाहिक-सुख आदि भागोंमें मत्त रहकर) सुखसे दिन कटाते हैं। वहिक जो लोग वैराग्यका आचरण करते हैं, हम लोगोंको दुःखी और रोगी बताते हैं, वे सुन दी किसी भयंकर रोगसे पीड़ित हैं। उनके विचारमें वैराग्य ही वह भयंकर रोग है। उनकी धारणाके अनुसार वैराग्य—पाखरण है तथा ऐन्द्रिक-सुख ही एकमात्र कार्य है। जैसे विकार ग्रस्त व्यक्ति शीतल जल पी कर अधिकतर विकारयुक्तहो पड़ता है, वैसे ही विषयी मानव इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोग करते हुए क्रमशः वासनारूप रोगकी वृद्धि करता है। वायु विकारका रोगी या पागल जैसे स्वस्थ दिमागके लोगों

की अवस्था पर दुःख प्रकाश करता है, वैसे ही संसारी पुरुष भी वैरागी पुरुषको देखकर दुःख प्रकाश करता है। जैसे मत्त्यापान करनेवाले उनमत्ता व्यक्ति मत्त्यापानसे दूर रहनेवाले लोगोंको दुर्भागा समझते हैं, वैसे ही संसारमें मुख्य रहनेवाले मूर्ख व्यक्ति भी ज्ञानी पुरुषोंके वैराग्यको दुःखका कारण मानकर चिन्तित हो पड़ते हैं। हाय ! इन अधोध व्यक्तियोंका उपाय क्या है ? जब कि इनको अपने रोग तकका पता नहीं है, तब इनको शनित कैसे मिल सकती है ? भला, ऐसा कौन बुद्धिमान् इनकी ऐसी अवस्था देख-मुनकर भी दुःखी न होगा ? यदि भक्तजन ऐसे लोगोंपर दया न करें, तो इनके उद्धारका कोई भरोसा नहीं है। यदि स्वस्थ लोग कष्ट स्वीकार कर पागल व्यक्तिकी चिकित्सा न करें, तो उसके लिए दूसरा उपाय ही क्या है ? पागल व्यक्ति (अभक्त) यद्यपि उपकार करनेवालेके प्रति विरुद्ध आचरण करता है—गालियाँ बकवा है, तथापि हरि-

दास (भगवद्गुरुलोग) जगाई-मधाईको (विरुद्ध आचरणकारी अभक्तों को) हरिनामामृत पान कराने से विरत न होंगे। वैष्णववृन्द ! यद्यपि मूर्खलोग आपलोगोंको गालियाँ देते हैं, कटु बचन सुनाते हैं, और समय-समय पर मारने को भी उतार हो जाते हैं, फिर भी आप लोग अपने पथसे विचलित न होंगे। यदि संतानका कोई अंग सङ्ग जाय, और उस अंगको बिना काटे उसके प्राणोंको बचाना असंभव हो जाय, तब ऐसी अवस्थामें अत्यन्त विरक्त हुए बालकके कटु बचनों द्वारा अपने अपमानकी तरफ ध्यान न देकर माता-पिता संतानका कल्याण करने से मुख नहीं मोड़ेंगे। कृष्णके सेवकवृन्द भी वैसे ही इन्द्रियोंके दास मनुष्योंका कल्याण करनेमें किसी प्रकार अपना मुँह न मोड़ेंगे।

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

मायावादकी जीवनी

[एवं-प्रकाशित वर्ष २, संख्या ४, पृष्ठ ३७० से आगे]

मधुसूदन सरस्वती

मायावादका कहण आच्छानाद सुन कर परिडत्कुल-चूडामणि 'मधुसूदन' ने मायावादके भस्मके ऊपर 'अद्वैत-सिद्धि' रूप समाधि-मनिदरका निर्माण किया। मधुसूदन सरस्वतीका जन्म पूर्वी-बड़ाल (पूर्व-पाकिस्तान) के फरिदपुर जिलेके अन्तर्गत कोटालिपाहा परगनेके उनसिया नामक एक गाँवमें हुआ था। नवदीपमें न्यायशालका विधिवत् अध्ययन कर इन्होंने बाराणसीमें श्रीरामचन्द्रके निकट बेदान्तके मायावादी भाष्योंका अध्ययन किया। पीछे माध्व-सम्प्रदायके आचार्य व्यासरायके 'न्यायामृत' के खण्डनमें इन्होंने 'अद्वैत-सिद्धि' नामक एक समृद्धिशाली तथा विराट ग्रन्थकी रचना की। 'अद्वैत-सिद्धि' की रचनाके बाद

मधुसूदन सरस्वती मन-ही-मन उसके खण्डन होने-की सम्भावना जान कर उस ग्रन्थको किसी भी दूसरे सम्प्रदायके परिदृष्टोंको पढ़नेके लिये नहीं देते थे। बल्कि उसे खूब छिपा कर रखते थे। व्यासरायके शिष्य व्यायामृत तीर्थने उनका अभिप्राय समझकर छाड़वेशमें उनसे 'अद्वैत-सिद्धि' के अध्ययनका बहाना कर सम्पूर्ण ग्रन्थको कण्ठस्थ कर लिया और 'न्यायामृत' ग्रन्थके ऊपर 'तरज्जुणी' नामक एक टीकाकी रचना कर 'अद्वैत-सिद्धि' रूप समाधि-मनिदरको तोड़फोड़ कर भूमिसात् कर दिया। उस समय अचिन्त्य-भेदाभेदके आचार्य परिडत्कुल-मुकुटमणि श्रीजीव गोस्वामी भी प्रकट थे। कहते हैं, जीव गोस्वामी

वाराणसीमें मधुसूदन सरस्वतीके पास वेदान्तका अध्ययन करनेके लिए गए थे। जैसा भी हो, मधुसूदन सरस्वतीके साथ जीव गोस्वामीकी भेट हुई थी, इस विषयमें कोई विशेष मतभेद नहीं दिखलाई पड़ता। काशीमें रहते समय उनमें परस्पर भक्ति-तत्त्वके संबन्ध में आलोचना हुई थी। उसीके परिणाम-स्वरूप मधु-सूदन सरस्वतीके हृदयमें श्रीचैतन्यदेवके प्रति प्रगाढ़ अद्वा-भक्ति उत्पन्न हुई और उन्हींकी कृपासे उन्होंने भागवत्धर्मकी—भक्तिधर्मकी श्रेष्ठता उपलब्धिकर अपने जीवनकी शेष कीचिंतके रूपमें ‘भक्ति-रसायन’ नामक एक प्रथकी रचना की। उक्त प्रथके प्रथम श्लोकमें उन्होंने भक्तिको ही एकमात्र परम पुरुषार्थ बतलाया है—

नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं,
परमिह मुकुन्दे भक्तियोगं ‘बद्धन्ति’ ।
मिरुपमसुख-सम्बिद् पूर्मस्पष्टदुःखं
तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनजिम ॥

अर्थात्, शास्त्रोंकी आलोचना कर जीवोंके चरम कल्याणरूप परम तुष्टिके लिये दुखसम्बन्ध-शूल्य अतुलनीय सुख और संविन शक्तिस्वरूप मुकुन्दके भक्तियोगका—जिस भक्तियोगको श्रीजीव गोस्वामी जैसे गुरुवर्गने नवरसमिलित और एकमात्र (केवलम) परम पुरुषार्थ बतलाकर जगत्में प्रचार किया है—मैं वर्णन कर रहा हूँ।

उक्त श्लोकमें ‘बद्धन्ति’—इस बहुवचनान्त शब्द द्वारा उन्होंने श्रीजीवगोस्वामीको गुरुस्वरूप मानकर उनके प्रति सम्मान सूचित किया है, तथा यह देखा जाता है कि मधुसूदन सरस्वती वहाँ ‘केवल-ज्ञान’ को परमपुरुषार्थ नहीं मानते हैं, बलिक उस विचारको परित्याग कर ‘केवल भक्ति’ को ही परमपुरुषार्थ बतलाय हैं।

जयपुर में मायावाद

श्रीचैतन्यदेवके समय अद्वैतवादके निर्वाण लाभ करनेके बाद मधुसूदन सरस्वती द्वारा निर्मित उसका समाधि-मंदिर भी श्रीजीवगोस्वामी और व्यासराम द्वारा ध्वंस प्राप्त होकर जीर्ण-शीर्ण खण्डहरोंके रूपमें

पड़ा था। उन्हीं खण्डहरोंसे प्रेतात्माओं जैसी कतिपय प्रचलन अद्वैतवादी जमायतों और श्रीराधाकृष्णाकी सेवा-विरोधी सम्प्रदायोंने जयपुरके राजमहलोंमें भारी उपद्रव मचाना आरम्भ किया। इन उपद्रवोंको शान्त करनेके लिए वृन्दावनसे श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके प्रतिनिधिस्वरूप गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीबल-देव विद्याभूषणजीको निमन्त्रण देकर जयपुर बुलाया गया। उस समय जयसिंह वहाँके नरेश थे। श्रीबल-देवने ‘गोविन्द’ नामके अतिरिक्त उपद्रवकारियोंके मंगलका और कोई दूसरा उपाय न देखकर ‘गोविन्द-भाष्य’ की रचनाकर मायावाद और ऐश्वर्यसेवावाद-की कुहिंसे राजपुरीकी रक्षा की थी। इस तरह उसी समयसे वहाँके राजप्रासादमें नाधुर्यमय भक्तिधर्मका लुप्तप्राय गौरव पुनः प्रतिष्ठित हुआ।

मायावादकी प्रेतात्मा

श्रीचैतन्यदेव और उनके भक्तोंके आविर्भावके बाद १७ बीं शताब्दीसे लेकर १६ बीं शताब्दी तक मोटे तौर पर यथार्थ मायावादी नहीं देखे जाते हैं। वीच वीचमें जिन्हें मायावादी समझा जाता है, वे असलमें अशरीरी, बायुभूत, निराश्रयस्वरूप मायावादकी प्रेतात्मा अथवा उसके तर्पणकारी ही प्रतीत होते हैं। उन प्रेतात्माओंके उद्धारके लिए वैष्णव ओमा लोग समय-समय पर आविर्भूत हुए थे। उनमेंसे कुछ लोगोंका नामोल्लेख किया जा रहा है। रामानुज सम्प्रदायके रामशास्त्रीने श्रुगोरीमठके स्वामी सञ्चिदानन्दको शास्त्रार्थमें पराजित किया था। प्रतिवादी—भयंकर अनन्ताचार्य रामानुज सम्प्रदायके एक प्रतिभाशाली परिणाम हुए थे। इन्होंने अपनी दिग्बिजयके समय काशीमें राजेश्वरी शास्त्री और विश्वेश्वर शास्त्री नामक अद्वैतवादियोंको शास्त्रार्थमें हराया था। माध्वसन्त्री-दायके सत्यध्यान तीर्थने भी काशीमें ही अद्वैतमतका खण्डन कर ‘अद्वैतमत-विमर्श’ और ‘त्रिपुण्ड्रधिकार’ नामक दो प्रत्योंकी रचना की है।

पञ्च भङ्गी

व्यासतीर्थके ‘न्यायामृत’ प्रथके खण्डनमें मधुसूदन सरस्वतीने ‘अद्वैतसिद्धि’ की रचना की। किर

अद्वैतसिद्धिके खण्डनके लिये माध्वसम्प्रदायके व्यास-रामतीर्थने 'तरंगिणी' की रचना की। 'तरंगिणी' के विशुद्धमें मायावादी सम्प्रदायके ब्रह्मानन्दने 'ब्रह्मानन्दीय' की रचना की और 'ब्रह्मानन्दीय' का खण्डन माध्वसम्प्रदायके 'वनमालामित्रिय' प्रन्थपञ्चक में किया गया है, जो 'पञ्चभज्ञी' के नामसे प्रसिद्ध है। सुना जाता है, मैसूरके राजकीय प्रन्थागारमें आज भी यह प्रन्थ संरक्षित है। पञ्चभज्ञीमें मायावादके समस्त सिद्धान्तोंका बड़े ही सुन्दर ढंगसे खण्डन किया गया है।

वैष्णव आचार्योंके अतिरिक्त दूसरे-दूसरे मनीषियों द्वारा मायावादका खण्डन

मायावादके असत् सिद्धान्तोंका खण्डन केवल वैष्णव आचार्योंने ही नहीं किया है, प्रत्युत न्याय, मीमांसा, शैव, सांख्य आदि मतोंके अनेक आचार्योंने भी उसके प्रति कटाक्ष किया है, उनमें अनेक दोष दिखलाये हैं, तथा उनका खण्डन किया है। उनमें गणेश उपाध्याय, राखालदास न्यायरत्न, नारायण भट्ट (जो अद्वैतवादी नसिह आश्रमके शिष्य नारायण आश्रमको शास्त्रार्थमें हराया था) भाष्कराचार्य और विज्ञानभिज्ञ आदि महात्माओंके नाम उल्लेखयोग्य हैं।

आधुनिक अवस्था

आधुनिक युगमें मायावाद भिन्न-भिन्न रूपमें जगत्में फैला हुआ है और फैल रहा है। यान्त्रिक युगमें यांत्रिक-सम्बन्धताके विस्तारके साथ-साथ पृथ्वीके समस्त देशोंमें परस्पर सम्बन्ध स्थापन होनेके कारण भारतीय मायावाद विभिन्न देशोंमें विचित्र-विचित्र आकारोंमें आदर पा रहा है। पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा परस्पर विरोधी मतोंके प्रचार किये जानेपर भी, तथा किसी-किसीके विचारसे इनमें मायावादके आपात विरुद्ध अनेक युक्तियाँ रहनेपर भी वे सभी किसी न किसी प्रकार मायावादकी ही पुष्पोषकता करते हैं। तत्त्वविदोंका कहना है—मायावाद अथवा केवलाद्वैतवाद भारतसे ही पृथ्वीके समग्र देशोंमें फैला है। सिकन्दरके साथ कुछ परिणामोंने भारतमें आकर केवलाद्वैत मतकी शिक्षा प्राप्त की थी, जिन्होंने

अपने देशमें लौटने पर वहाँ इसका प्रचार किया था। किसी-किसी पाश्चात्य विद्वानोंने भी अपनी पुस्तकोंमें इसका उल्लेख किया है।

पञ्चोपासना और समन्वयवाद—आधुनिक मायावादके दो वर्चे हैं। समन्वयवादके जन्मदाता मोमल सन्त्राट् अकबर थे। अकबर राजनीतिके एक कुगल खेलाड़ी थे। उन्होंने कुछ राजनीतिक सुविधाओंके लिये समन्वयवादका प्रचार किया था। उनके उस समन्वयवादको 'बीनहलाही-धर्म' कहते हैं। आधुनिक युगके सामाजिक और राजनीतिक नेताओंने कुछ सुविधा पानेकी आशामें समन्वयवाद अर्थात् प्रचलन वौद्धवाद (मायावाद) का आदर करना आरम्भ किया है। वैष्णवधर्मके नाम पर भी आजकल मायावाद खूब तेजीसे समाजमें प्रवेश कर रहा है। कहाँ तक गिनाया जाय, बंगालमें आउल, बाउल, कर्त्ता-भजा, नेड़ा, दरबेश, सौँई, सहजिया, सखीभेकी, स्मार्त, जाति गोसाँई, अतिवाही, चूड़ाधारी, गौरांग-नागरी आदि सभी मतोंके अनुयायी प्रचलन मायावादी हैं। द्वीपों के अतिवाही जगत्राथ और आसाम-के शंकरदेव, दोनों ही न्यूनाधिकरूपमें श्रीमूर्ति-विरोधी और प्रचलन मायावादी हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुके परवर्ती कालके रामानन्द, कवीर, नानक और दादू आदि समन्वयपन्थीगण कुछ कम या बेशी प्रचलन मायावादी हैं। आधुनिक जगत्में मायावाद कितने प्रकारके विचित्र रूपोंको धारणकर चल रहा है, इसे १६ वीं शताब्दीमें श्रीभक्तिविनोद ठाकुर और गौड़ीय मठके आचार्य उंचिष्ठापुद श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुरने निर्भाक होकर सिंह-खर से विश्लेषण और प्रचार कर सत्य-पिपासुओंकी आँखें खोल दी हैं। इन्होंने केवल गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायके ग्रन्थोंका प्रकाशन और प्रचारकर मायावाद आदि कुमतों और कुसिद्धान्तोंका खण्डन ही नहीं किया है, अपितु समस्त वैष्णव सम्प्रदायके वेदान्त-प्रन्थादि के प्रकाशन, प्रचार और आलोचनाका प्रचुर सुयोग प्रदानकर श्रीचैतन्य-सिद्धान्त-वाणी और भागवतार्क-मरीचिमालाके प्रखर तेजसे अनेक मतवादरूपी अन्धकारका नाश कर दिया है। (कमशः)

गीताकी वाणी

पंचम अध्याय

चतुर्थ अध्यायमें भगवान् कृष्णने कर्ममें अकर्मका दर्शन करनेवालोंको प्रशंसा की है। ऐसे व्यक्ति ब्रह्मपरायण होते हैं। ज्ञानी पुरुष लोकशिल्पाके लिये कर्म करते हैं। उनकी ज्ञानरूपी अभिन्नमें उनके सारे कर्म अपने अपने फलोंके साथ भस्म हो जाते हैं। कामनारहित होकर केवल शरीर-धारणोपयोगी कर्मोंका आचरण करनेसे धर्म-अधर्मरूप फलका भागी नहीं होना पड़ता। इन बच्चों द्वारा कर्म-त्यागकी वार-वार प्रशंसा की गई है। फिर कर्मको ज्ञानप्राप्तिका हेतु बतला कर चौथे अध्यायके अन्तमें कर्मयोगका ही उपदेश दिया गया है। किन्तु कर्मका त्याग और कर्मका आचरण ये दोनों क्रियाएँ एक ही व्यक्ति द्वारा एक ही समय संभव नहीं होती। अतएव दोनों क्रियाएँ एक ही व्यक्ति द्वारा एक ही समय न किये जानेसे कर्त्तव्य-साधनमें कोई बाधा पड़ती है या नहीं अथवा एकको त्यागकर दूसरीका आचरण करनेसे कोई हानि होनेकी संभावना रहती है या नहीं—इस प्रकार संदेहमें पड़कर अजुनने भगवान्-से पूछा—‘भगवन्! कर्मयोग और कर्म-संन्यास—इन दोनोंमें से कौन श्रेष्ठ है? क्योंकि आपने इन दोनों योगोंको उत्तम श्रेयः स्वरूप बतलाया है।’

भगवान्‌जी अजुनका प्रश्न सुनकर इस प्रकार उत्तर देते हैं—जब कर्मयोगके आचरणसे अन्तःकरण शुद्ध होने पर साधको आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब उसका कर्म-त्यागमें अधिकार होता है। यदि किसी व्यक्ति की एक विषयमें आसक्ति है तो इसका अर्थ यह है कि उस व्यक्तिका दूसरे विषयोंके प्रति द्वेषका भाव बत्तमान है। कर्मका विषयोंमें अनुराग होता है, किन्तु ज्ञानीका उसमें द्वेष होता है। अतएव जिसके हृदयमें विषयोंकी आकंक्षा नहीं रहती, उसके अन्तःकरणमें

द्वेषका न होना ही संभव है। सुख-दुःख रूप द्वन्द्वसे रहित होने पर ही वे संसार-बन्धनसे मुक्त हों सकते हैं। ज्ञान और कर्मको जो लोग पृथक बतलाते हैं अथवा परस्पर विरुद्ध कहते हैं, वे भूखे हैं। तत्त्व-ज्ञानियोंकी धारणा ऐसी नहीं होती। आत्मज्ञान रूप सांख्ययोग द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोग द्वारा भी वही स्थान प्राप्त होता है। अर्थात् ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति लोकिक कर्मोंको त्यागकर अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर श्रवण-मननादिद्वारा जिस मोक्ष पदको प्राप्त होता है, निष्काम कर्मयोगी भी फलकी कामनासे रहित होकर ब्रह्मार्पण-बुद्धिसे कर्मोंके आचरण द्वारा वही पद प्राप्त होता है।

अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये अज्ञ व्यक्तियोंको सर्वप्रथम निष्काम कर्मोंका आचरण करना ही कर्त्तव्य है। कर्मयोगके बिना कर्म-संन्यास असंभव है। संन्यासके लिये ज्ञाननिष्ठाकी आवश्यकता होती है। कर्मयोग द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने पर ज्ञान-निष्ठा प्राप्त होती है, और उसके बाद संन्यासमें अधिकार होता है। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये सर्वप्रथम शास्त्रीय विधिके अनुसार कर्मका आचरण न कर कर्म संन्यास लेनेसे वह दुःखका ही कारण होता है। जब भगवदर्पण-बुद्धिसे निष्काम कर्मोंका आचरण किया जाता है, तब अन्तःकरणके रज और तमगुण दूर हो जाते हैं तथा उनके स्थान पर सत्त्वगुणका विकास होता है। फलस्वरूप चित्त शीघ्र ही निर्मल हो जाता है। इस समय आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। ऐसी अवस्थामें कर्मयोगका आचरण करने पर भी कर्मोंमें आशक्ति नहीं होती। वैसा ब्रह्मज्ञानी पुरुष ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियोंकी चालना करके भी विषयोंमें लिप्त नहीं होता। उसकी इन्द्रियाँ अपने-अपने

विषयोंमें विचरण करने पर भी वह उन कर्मोंमें अनासक्त रहकर ब्रह्मचिन्तामें निमग्न रहता है।

कर्तृत्व-बुद्धि ही कर्मोंमें आसक्ति उत्पन्न करती है अर्थात् 'मैं ही इस कर्मका कर्ता हूँ', 'यदि मैं न करूँ तो यह नहीं हो सकता', 'इस कर्मका अमुक फल लाभ करूँगा', 'उससे हमारी अमुक इन्द्रियको परितुष्टि होगी'—ऐसे अभिमान ही कर्ममें आसक्ति उत्पन्न करता देते हैं। किन्तु निष्काम कर्मयोगी अपनी इन्द्रियोंके सुखके लिये कोई भी कर्म नहीं करते। वे तो केवल भगवान्‌की सेवाजन्य ही सब कुछ करते हैं। जैसे राजाके कर्मचारियोंकी युद्धमें—चाहे हार हो या जीत—राजा ही उसका फल भोग करता है, कर्मचारियोंका उस फलसे कोई मतलब नहीं, वैसे ही भगवत्सेवाके निमित्त कर्मोंका आचरणकारी उन कर्मोंका अच्छा या बुरा फल—सुख अथवा दुःख भोग नहीं करता। ऐसा कर्म तो केवल उन्हीं भक्तोंके लिये संभव है—जो कृष्णके चरणोंमें शरणागत हैं। वे लोग भगवान्‌के चरणोंमें आत्मनिवेदन कर तन-मन और चरनसे कृष्णकी सेवामें ही सर्वदा निमग्न रहते हैं तथा अपनी सेवा-निष्ठाके कारण अनायास ही भव-बन्धनसे छुटकारा पा लेते हैं। भगवान्‌ने द्वादश अथवायमें 'मत्कर्म परमो भव' श्लोकमें इस विषयको वही सुन्दरतासे व्यक्त किया है।

कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि ईश्वर जिससे जो कुछ—भला-बुरा करवाते हैं, वह वैसा ही करता है। इसलिये ईश्वर ही भले-बुरे समस्त कर्मोंके कर्ता हैं—इस गलत धारणाको दूर करनेके लिये भगवान् फिर कहते हैं—'तुम ऐसा करो' इस प्रकार किसीको इज्जित कर परमेश्वर कर्म करनेका आदेश नहीं देते अथवा लोगोंके सुखदायक अथवा दुःख-प्रापक कर्मोंकी भी सूष्टि नहीं करते। वे न तो किसीको विपुल वैभव देकर उसके सुखका हेतु ही बनते हैं और किसीको अनन्त दुःख-सागरमें झूंकोकर उसके दुःखका कारण ही होते हैं। इतना ही नहीं, जीवोंके द्वारा आचरित शुभ-अशुभ कर्मफलके संयोगकर्ता भी वे नहीं हैं। वलिक जीवकी प्रकृति अर्थात् अनादि कालसे चले आ

रहे अज्ञानसे उत्पन्न स्वभाव ही जीवको कर्ममें प्रवृत्त करा देता है। जीवका शुद्धज्ञान अज्ञानद्वारा आच्छादित रहनेके कारण देहमें आत्मबुद्धिरूप मोह उत्पन्न होता है, वही मोह जीवको पाप-पुण्यात्मक कर्मोंमें प्रवृत्त कराता है; जैसे सूर्य निकलते ही अन्धकार अपने-आप दूर हो जाता है, वैसे ही आत्मतत्त्वज्ञानके उदय होते ही जीवका मायिक ज्ञान तिरोहित हो जाता है। उसी समय शुद्ध ज्ञानसे युक्त व्यक्तिकी बुद्धि परब्रह्ममें स्थिर हो जाती है। तब वह भगवन्निष्ठ और भगवत्सेवा-प्रायण हांकर मोक्षका अधिकारी होता है। ऐसे ही व्यक्तियोंको 'पण्डित' कहा जाता है। ये लोग सर्वत्र समदर्शी होते हैं अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें परमात्माका अधिष्ठान दर्शन करते हैं—

'जद जङ्गम है देखते, नाहिन उनकी मूर्ति।'

सब जगहोंमें उनकी, होत इष्ट की स्फूर्ति ॥'

वे लोग समझानके प्रभावसे संसारको जीत कर ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं। ब्रह्मको प्राप्त किये हुए पुरुष न तो प्रिय वस्तुको पाकर आनन्दित होते हैं और न अप्रियको पाकर दुःखी ही। वे सुख-दुःखसे विचलित नहीं होते तथा वाह्य विषयोंमें आसक्ति-रहित होकर परमात्माकी ध्यान-निष्ठासे अक्षय सुखको प्राप्त होते हैं।

विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले भोग दुःखका कारण और आदि-अन्तर्वाले होते हैं। बुद्धिमान पुरुष उनमें नहीं रमते। जो शरीर छूटनेके पहले यहाँ पर काम-कोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगोंको सहन करनेमें समर्थ होता है, वही व्यक्ति युक्त है और वही सुखी है। जो अन्तरात्मामें सुखवाला, अन्तरात्मामें ही रमण करनेवाला, और अन्तर्दर्योतिवाला है, वह ब्रह्मभूत योगी आत्मानुभव रूप सुख-को प्राप्त होता है। जिनके संशय दूर हो गये हैं, पाप ज्यों हो चुके हैं और जिनकी इन्द्रियाँ वशीभूत हैं, वे सब प्राणियोंके हितमें लगे हुए अन्तमें ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं। काम-कोधसे रहित, यत्नशील, संयत-चित्त और जितेन्द्रिय पुरुष सब ओरसे ब्रह्मको ही प्राप्त करते हैं। जो वाह्य विषयोंको बाहर रखकर,

नेत्रोंको भौहोंके बीच स्थिर कर नासिकामें विचरनेवाली यज्ञ और तपोंका भोक्ता, सबका महान् ईश्वर और प्राण और अपान वायुको सम कर हन्द्रिय-मन-बुद्धिको प्राणिमात्रका सुहृद जानकर शान्तिको प्राप्त होते हैं। वशमें कर लेते हैं, तथा भय और क्रोधसे रहित होते हैं, वे सर्वदा ही मुक्त हैं। ऐसे व्यक्ति परमात्माको

—त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रीती महाराज

शरणागति

आत्मनिवेदन-अहंतास्पद देही समर्पण (काव्यिक)

ॐ विद्युपाद् श्रीमद्भक्ति विनोद ठाकुर

“मैं” “मेरा है”—शब्द-अर्थ से जो कुछ भी प्रभु, होता हो।
अहो दयामय, तब चरणों में आर्पण करता हूँ मैं सो॥
अब तो स्वामी, रहा नहीं हूँ मैं अपना—सच कहता हूँ।
सभी तरफ से हुआ तुम्हारा, चरण-शरण में रहता हूँ॥
जीव देहधारी ने “मैं” के अहंभाव को छोड़ दिया।
आज हृदय में बस, त्वदीय-अभिमान पक है बसा लिया॥
देह, गेह, सर्वस्व हमारा, अनुचर, भाई-बन्धु हजार।
पत्नी, पुत्र, रत्न, धन, सारा, पोती, पोते, यह घरबार॥
सभी तुम्हारा हुआ आज से, मैं चरणों का दास हुआ।
नाथ ! तुम्हारे गृह में अब से मेरा नित्य निवास हुआ॥
तुम हो घर के स्वामी सच्चे, मैं सेवक भजने वाला।
सदा कहूँगा यत्न तुम्हारे सुख का, सब तजने वाला॥
स्थूल-लिङ्ग-तनु में अब मेरा कुछ भी नहीं सुकृत दुष्कृत।
प्रभु, मैंने छुटकारा पाया, अब न रहा मैं जीवन्मृत॥
मेरी हच्छा मिली तुम्हारी हच्छा में—यह जन्म नया।
भक्तिविनोद आज अपने को है कहणानिधि ! भूल गया॥



सदाचार

(१)

शास्त्रके उपदेशोंको अपने जीवनमें आचरण करनेका नाम ही आचार है। भगवद्गुरुके संतोंका आचार ही सदाचार कहलाता है। पश्चापुराणमें कहते हैं—

स्मत्त्व्यः सतत् विष्णु विस्मत्त्व्यो न जानुचित् ।
ततो विधिनिषेधाः स्थूरेतयोरेव किङ्कराः ॥

अर्थात्, विष्णुको सर्वदा स्मरण रखना चाहिये और उनको कभी भी मुलना नहीं चाहिए। जिस-जिस क्रियासे भगवन्तस्मृति सदा बनी रहे, उनको 'विधि' कहते हैं तथा जिनसे भगवद्विस्मृति घटती है उनको 'निषिद्ध' वा अनाचार कहते हैं। शास्त्रोंमें जिन-जिन विधियों और निषेधोंका विधान दिया गया है, वे सभी भगवन्तस्मृतिरूप मूल विधि और भगवद्विस्मृतिरूप मूल निषेधके आधीन हैं।

सत्संगसे ही लोगोंकी मति भगवान्के चरणोंकी और आकृष्ट होती है और उनके मानसपटल पर भगवन्तस्मृति उदय होती है। इसीलिए सत्संगको ही सर्वश्रेष्ठ आचार बतलाया गया है। दूसरी तरफ असत्संगसे जीवोंका अधःपतन होता है, इसलिए असत्संगका परित्याग करना भी जीवोंका अवश्य कर्त्तव्य अथवासदाचार है। श्रीमद्भागवतमें सत्संगकी सर्वश्रेष्ठता सुपष्ट शब्दोंमें घोषित की गयी है—

तुलनायाम लवेनापि न स्वर्गं न पुनर्भवम् ।
भगवत् सक्षिसङ्गत्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

(श्रीमद्भा० १।१।१३)

-भगवत्प्रेमी भक्तोंके सत्संगसे स्वर्ग और मोक्षकी तुलना नहीं की जा सकती, फिर मनुष्योंके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है।

'साधुसंग' 'साधुसंग'—सर्वशास्त्रे कथ ।
जबमात्र साधुसंगे सर्वसिद्धि हय ॥
(च० च० म० २२।२४)

आदि पद्यांशोंमें साधुसंगकी अपूर्व महिमाका वर्णन किया गया है।

सदाचारमें जैसे सत्संग महाय करना अत्यन्त आवश्यक होता है, उसी प्रकार असत्संगका वर्जन करना भी अपरिहार्य होता है। इस विषयमें चैतन्य-चरितामृतमें स्पष्ट निर्देश दिया गया है—

असत्संग त्वग—एहै वैष्णव आचार ।
खीसंगी—एक असाधु, कृष्णामक आर ॥

(च० च० म० २३।८)

जगद्गुरु श्रीभक्तिविनोद ठाकुर उस प्रयारके अमृतप्रवाह भाष्यमें लिखते हैं—‘जैसे सत्संग अन्वय रूपमें वैष्णव आचार है, वैसे ही असत्संगका वर्जन करना भी व्यतिरेकरूपमें वैष्णव-आचार ही है। असत्संग दो प्रकारका होता है—(१) खीसंगी अर्थात् खियोंके प्रति आसक्त रहने वाला और (२) जिसके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति भक्तिभाव न हो। शुद्ध भक्तोंको इन दोनों प्रकारके असत्संगों से सदा बचना चाहिए।

न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धशब्दान्यप्रसंगतः ।
योषितसङ्गाद्यथा पुंसो तथा तत्संगिसंगतः ॥

(श्रीमद्भा० १।१।१४।३०)

अर्थात् खियोंके और खीसंगियोंके—जम्पटों के संगसे पुरुषोंको जैसे क्लेश और बन्धनमें पड़ना पड़ता है, वैसा अन्य किसी भी संगसे नहीं होता है।

उक्त श्लोककी टीकामें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने लिखा है—

‘योषित्सङ्गसङ्गत्यागे भूयानेव यतः कर्तव्यः । यतो योषित्संगे लज्जा स्त्रीया प्रतिष्ठा च वाधिकास्ति तस्संगीसंगे तु प्रायस्तेऽपि न वाधिके । परच्छ योषित्संगी यथा तत्कथाभिस्तस्यामासद्भवति लज्जाभयादिकमपि त्याजयति न तथा योषिदपि ।

साधक भक्तको स्त्रीसंगका अवश्य परित्याग करना चाहिये । क्योंकि किसी स्त्रीका संग करनेमें लोक-लज्जा और बदनामीका डर रहता है और ये दोनों उसके पतनमें कुछ न कुछ हद तक वाधक होते हैं । किन्तु स्त्रीसंगियों—लम्पटोंके संगमें वैसी कोई वाधा न होनेके कारण अत्यन्त शीघ्र ही पतन हो जाता है । स्त्रीसंगी अपनी आपात-मधुर वाणियोंसे अपने साथी जीवकी लज्जा और बदनामीका डर दूर कर उसे स्त्रीसंगके जालमें फँसा देता है । इस तरह वह भोले भाले जीवका सर्वनाश कर डालता है । स्त्रीसंगियोंके संगका कितना भयङ्कर परिणाम होता है, श्रीमद्भगवतमें उसका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

सर्वं शौचं दया मौनं बुद्धिर्हीः श्रीर्यशः चमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद् याति संचयम् ॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाप्तुषु ।
सङ्गं न कुर्याद्व्योच्येषु योषित् क्रीडामृगेषु च ॥
(श्रीमद्भा० ३।२१।२३)

अर्थात् स्त्रियोंके क्रीडामृग (स्त्रीसंगी) अत्यन्त शीघ्रनीय, अशान्त, मूढ़, बुद्धिभ्रष्ट और असापु होते हैं । उनके सङ्गसे मनुष्यके सत्य, शौच (बाहर भीतरकी पवित्रता) दया, वाणीका संयम, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, लज्जा, यश, चमा, मन और इन्द्रियोंका संयम तथा ऐश्वर्य आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं ।

और काल्यायन संहितामें तो यहाँ तक कहा गया है कि—धधकती हुई आगसे युक्त पिंजड़ेमें बन्द रहने के क्लेशको सह लेना कहीं अच्छा है, किन्तु कृष्ण-चिन्तासे विमुख लोगोंका सङ्ग—जो अथःपतनका कारण है—कभी नहीं करना चाहिए—

वरं हुतवहज्याला पञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः ।

न शौरिचिन्ताविमुखज्ञसंवास— वैशसम् ॥

श्रीहरिनाम-संकीर्त्तन ही कलियुगका युगधर्म है । अतः कलियुगी जीवों के लिए इरिनाम । संकीर्त्तन सर्वश्रेष्ठ आचार है—यह कहना ही अस्युक्ति होगी । भगवान्के नाम, रूप, गुण और लीलाका अवण, कीर्त्तन, और स्मरण करना जीवोंके लिए नित्य आचरणीय विषय है । इसके अभावमें यत्रन्त्र-सर्वत्र अनाचार अथवा दुःख अवश्यंभावी है । इसलिए प्रत्येक कल्याणकामी जीवको उक्त सदाचारका अवश्य ही पालन करना चाहिए ।

धर्म ही सदाचार है और अधर्म ही अनाचार है । अधोक्षण भगवान्के प्रति भक्ति ही जीवोंका परमधर्म है । इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यमात्रका यह कर्तव्य है कि वह भक्तिरूप परम धर्मका—सदाचारका अवश्य पालन करे । हृदयमें यदि धर्मका या सदाचरका स्थान न हो तो, उस नीरस हृदयमें अनाचार अपना अहु जमाकर जीवको अधोगामी करेंगे ही करेंगे । इस लिए शास्त्रोंका निर्देश है—

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः ।

श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च हमत्त व्यश्चेच्छ्रुताभयम् ॥

(श्रीमद्भा० २।१।५)

श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षितमहाराजसे कह रहे हैं कि—परीक्षित ! जो अभयपदको प्राप्त करना चाहता है—नित्यानन्दको पाना चाहता है, उसे सब जीवोंके अन्तर्यामी, अभयप्रदाता भगवान् श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीलाओंका अवण, कीर्त्तन और स्मरण करना चाहिए । इसके अतिरिक्त कल्याण प्राप्ति का कोई और पथ नहीं है ।

शास्त्रोंका कहना है—आचारहीन मनुष्यको इहलोकमें या परलोकमें—कहीं भी सुख नहीं मिलता है । उसके यज्ञ, दान और तपस्या सभी निष्कल होते हैं । चारों वेदोंका विधिवत् पाठ भी उनको पवित्र नहीं कर सकता । जैसे मनुष्यकी खोपड़ी अथवा कुत्तेके चमड़ेके वर्त्तनमें रखा गया जल अपवित्र

होता है, उसी प्रकार असदाचारी मनुष्यके तीर्थ अमण्डल और दानादि पुरुषकर्म भी व्यर्थ हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी धार्मिक नहीं हो सकते। दूसरी तरफ आचार धर्मका मूल है। सदाचारसे एश्वर्य लाभ होता है, कीर्ति प्राप्त होती है, परमायु लाभ होती है, तथा दरिद्रता और अपमृत्युका नाश होता है। सदाचार इस लोकमें धर्म, अर्थ और काम तथा परलोकमें नित्यानन्द प्रदान करता है। तीर्थ भी ऐसे सदाचारी संतों के समागमकी कामना करते हैं।

भगवद्गति ही सच्चा आचार है और आचारवान् व्यक्ति ही सच्चा भक्त है। वह सर्वदा आत्म और पर-कल्याणके लिए चेष्टा करता है। पहले आचार, पीछे प्रचार। इसलिए आचार्य ही सच्चे प्रचारक हैं। जैसे विद्वान् ही विद्यादानका अधिकारी है, उसी प्रकार आचारवान् व्यक्ति ही प्रचारका सच्चा अधिकारी है। आचारवान् ही जीवन्त मनुष्य है। अनाचारी तो जीवित रहने पर भी मृतक है। आचार ही प्रचारका प्राण है। सदाचारके पीछे गुरुकी कृपा-शक्ति अथवा चिद्रबल होता है। आचारवान् दुःखी को मुखी, भीतको निर्भय, दुश्चिंतितको निश्चिंत तथा विमुखको उन्मुख करनेकी अद्भुत शक्ति रखता है। आचारहीन मनुष्य दुर्बल होता है। जैसे निर्धन धन नहीं दे सकता, मूर्ख विद्यादान नहीं कर सकता, उसी प्रकार आचारहीन व्यक्ति किसीके हृदयमें भजन-बल अथवा सेवाभाव जाप्रत नहीं कर सकता। आचारवान् व्यक्तिके निकट केवल अद्भुपूर्वक वैठे रहनेसे ही निष्कपट और अद्भालु व्यक्तिके हृदयमें स्वतः भक्ति संचारित हो जाती है। आचारवान्का आचरण ही जीवको भक्ति-पथ पर आरह करा देता है। वे अधिक न बोलने पर भी उनका भजनमय व्यक्तित्व ही अद्भालु व्यक्तियोंको भगवत्तचरणकमलोंकी तरफ बरबस स्त्रीच लेता है। और यदि वे कृपाकर हरिकथारूप अमृतका पान करा दें तो कहना ही क्या है। असदाचारी व्यक्ति—चाहे वह प्रकांड विद्वान् हो, कुलीन हो, धनी हो, मानी हो, लेखक हो, वक्ता हो, चाहे बड़ा से बड़ा प्रचारक भी क्यों न हो, परमार्थ की इच्छा रखनेवाले उनका आदर नहीं करते।

सदाचारी व्यक्तियोंचे हृदयमें दंभ नहीं होता, बल्कि स्वाभाविक दैन्य विराजमान रहता है। तथा समस्त सद्गुणोंके साथ भक्ति भी वहाँ निवास करती है। सदाचारकी बड़ी विराट शक्ति होती है। सदाचारी व्यक्ति असत्संगका परित्यागकर सत्संग प्रहण करनेके लिए हृदसंकल्प होता है। श्रीगुरु—नित्यानन्दकी कृपा होने पर ही जीव शक्ति पाकर प्रचार करनेका सौभाग्य प्राप्त करता है। अन्यथा आचरणहीन व्यक्ति प्रचारक या वक्ता होनेका स्वांग रचकर भी केवल तुच्छ भोग और प्रतिष्ठाको ही संप्रह करता है। जगत्‌में प्रचारक या लेखक अथवा वक्ताओंका अभाव नहीं, किन्तु अभाव है सदाचारी व्यक्तियोंका। आचारहीन लोभी और कामी वक्ता, गायक, लेखक, साहित्यिक, प्रचारक और कवि आत्म और पर की बंचना ही करते हैं। उनसे जगत्‌का कोई कल्याण नहीं होता। वक्ताके सम्बन्धमें जीव गोस्वामीने भक्तिसंदर्भमें श्रीब्रह्मवैवत्' पुराणका निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

वक्ता सरागो नीरागो द्विविधः परिकीर्तिः ।

सरागो लोलुपः कामी तदुकं द्वन्न संस्पृशेत् ॥

उपदेशं करोत्येव न परीकां करोति च ।

अपरीक्षोपदिष्टं यत् लोकनाशाय तदभवेत् ॥

धर्मवक्ता दो प्रकारका होता है—सराग और नीराग। सराग वक्ता लोभी और कामी होता है। उनके प्राणहीन नीरस सुन्दर उपदेश श्रोताओं के हृदयको छू नहीं पाते। ये लोग केवल उपदेश देना भर ही जानते हैं, उन उपदेशोंको अपने जीवनमें परीक्षाकर—आचरण कर उनकी सत्यताकी उपलब्धि नहीं करते। तोतेकी तरह रटी दुई मीठी बोलियोंसे अपना और दूसरोंका कल्याण नहीं किया जा सकता। इससे तो जगत्‌में जंजाल ही अधिकाधिक रूपमें बढ़ता है।

भगवान् श्रीचैतन्यदेवने स्वयं आचारवान् होकर अर्थात् हरि-भजन द्वारा अपना जीवन सार्थक कर परोपकार करनेके लिए—दूसरोंको हरि-भजनमें उन्मुख करनेके लिए उपदेश दिया है—

भारत भूमि ते हैल मनुष्य जन्म यार ।
जन्म सार्थक करि कर पर उपकार ॥
(चै. च. आ. ६४१)

श्रीसनातन गोस्वामीने श्रीहरिदास ठाकुरके प्रति
कहा था—

अपने आचरे कोइ ना करे प्रचार ।
प्रचार करेन केह, ना करेन आचार ॥
'आचार', 'प्रचार'—नामेर करह दुहं कार्य ।

तुमि सर्वगुरु, तुमि जगतेर आर्थ ॥
(चै. च. आ. १०२-१०३)

अर्थात् कुछ लोग आचरण तो करते हैं, परन्तु
प्रचार नहीं करते और कुछ लोग प्रचार करते हैं किंतु
आचरण नहीं करते । परन्तु आप धन्य हैं, क्योंकि
आपके जीवनमें इन दोनोंका सुन्दर समावेश हैं—
आप स्वयं हरिनाम करते हैं और दूसरोंसे करवाते
भी हैं । आप जगत्के पूज्य हैं ।

—त्रिदिविष्टवामी श्रीमद्भक्तिमयुक्त भागवत महाराज

जैव-धर्म

[वर्ष प्रकाशित वर्ष २, संख्या ४, पृष्ठ ३८३ से आगे]

यादवदास—‘अनुपयुक्त चेष्टा किसे कहते हैं ?’

अनन्तदास—‘कर्मकाण्डसे चित्तको शुद्धकर फिर
ब्रह्मज्ञानका अवलम्बन कर ‘मायासे मुक्त हो
जाऊँगा’—ऐसी चेष्टाका नाम अनुपयुक्त चेष्टा है ।
अष्टांग योग द्वारा समाधियोगमें चिन्मय हो
जाऊँगा—यह भी अनुपयुक्त चेष्टा है । इसी तरह
बहुतसी अनुपयुक्त चेष्टाएँ हैं ।’

यादवदास—‘ये चेष्टाएँ अनुपयुक्त क्यों हैं ?’

अनन्तदास—‘इस लिये कि उन चेष्टाओंसे मनो-
बांधित फल प्राप्त करनेमें बहुतसी बाधाएँ हैं, तथा
अभिलिपित फल पानेकी संभावना भी कम है । यात
यह है कि जिसके प्रति अपराध करनेसे हमारी यह
अवस्था प्राप्त हुई है, उसीकी कृपासे हमारी यह दशा
दूर हो सकती है, अन्यथा नहीं । अनुपयुक्त चेष्टाओं
से हम अपनी शुद्ध दशा प्राप्त नहीं कर सकते ।’

यादवदास—‘उपयुक्त चेष्टा क्या है ?’

अनन्तदास—‘साधुसंग और प्रपत्ति अर्थात्
शरणागति । सत्संगके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें
कहा गया है—

(क) यह त्रिगुणमयी मेरी दैवी माया को मनुष्य अपनी चेष्टासे उत्तीर्ण नहीं हो सकता । अतएव
मायासे पार पाना बहुत ही कठिन है । जो एकमात्र मेरी शरणमें आते हैं, वे मेरी मायासे तर जाते हैं ।

अत आत्यन्तिकं शेषं पृच्छामो मवतोऽनवा ।

संसारेऽस्मिन् चण्डार्दोऽपि सत्संगः शेषधिन् शाम् ॥

(श्रीमद्भा० ११२३०)

अर्थात् हे निष्पाप महात्मागण ! हम आपलोगोंसे
प्रश्न करते हैं कि परम कल्याण क्या है ? इस संसार
में आधे चण्डाका सत्संग भी मनुष्यके लिए परम
निधि है ।

यदि पूछो—इस संसार-दशामें पड़े हुए जीवोंका
परम कल्याण कैसे हो सकता है, तो मैं कहूँगा—
आधे चण्डाके सत्संग द्वारा ही परम कल्याण प्राप्त
किया जा सकता है ।

प्रपत्तिके सम्बन्धमें गीताके सातवें अध्यायमें कहा
गया है—

दैवी शेषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपत्तन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ (क)

चण्डीदास—‘महात्मन् ! मैं आपकी इन बातोंको
अच्छी तरह समझ नहीं सका । मैं तो केवल इतना
ही समझा हूँ कि, हमलोग पवित्र वस्तु थे; कृष्णको
भूलकर हमलोग मायाके हाथोंमें पड़ गये हैं और

मायाद्वारा ही इस जगत् में आवद्ध हो गए हैं। कृष्ण की कृपा होनेसे हमलोगोंका फिर उद्धार हो सकता है, अन्यथा ऐसी अवस्थामें ही भटकते रहेंगे।

अनन्तदास—‘हाँ, तुम अभी हतना ही विश्वास करो। यादवदासजी इन बातोंको अच्छी तरह समझते हैं। उन्हींसे धीरे-धीरे इन बातोंको समझ लेना। श्रीजगदानन्दजीने ‘प्रेम-विवर्त’में जीवोंकी विभिन्न अवस्थाओंका बहुत ही सुन्दर चित्र अंकन किया है—

‘चित्रकण—जीव, कृष्ण—चिन्मय भाष्कर।

नित्य कृष्ण देखि—कृष्ण करेन आदर ॥
कृष्ण-वहिसुख इवा भोगवांद्वा करे ।
निकटस्थ माया तरे जापिया धरे ॥
पिशाची पाइवे येन मतिन्द्रज्ञ इय ।
मायाग्रस्त जीवेर हय से-भाव उदय ॥
‘आमि सिद्ध कृष्णदास’ पूर्व कथा भूले ।
मायार नकर हृषा चिरदिन उले ॥
कमु राजा, कमु प्रजा, कमु विप्र, शुद्र ।
कमु दुखी, कमु सुखी, कमु कीट झुद ॥
कमु स्वर्गे, कमु मर्याएं, नरके वा कमु ।
कमु देव, कमु दैत्य, कमु दास, प्रमु ॥
एहरूप संसार अभिते कोन जन ।
साधुसंगे निज तत्त्व अवगत हन ॥
निज—तत्त्व जानि आर संसार ना चाय ।
केन वा भजिनु माया, करे हाय हाय ॥
केंद्र वले, ‘ओहे कृष्ण, आमि तय दास ।
तोमार चरण छाड़ि हैल सर्वनाश’ ॥
काकुति करिया कृष्णे ढाके एक वार ।
‘कृपा करि’ कृष्ण तारे छालान संसार ॥
मायाके पिल्लने राखि कृष्ण-पने चाय ।
भजिते भजिते कृष्ण—पादपद्म पाय ॥
कृष्ण तारे देन निज चिच्छकिर वस्त ।
माया आकर्षण छाड़े हृष्णा दुर्बल ॥
‘साधु-संगे कृष्णनाम’ एह मात्र चाह ।
संसार जिनिते आर कोन वस्तु नाह’ ॥

भावार्थ यह है कि—पदार्थ दो तरहका होता है—चेतन और जड़। जिन पदार्थोंमें इच्छा और अनु-

भव-शक्ति होती है, वे चेतन पदार्थ हैं, जिनमें इन दोनोंका अभाव होता है, वे जड़ पदार्थ हैं। चेतन पदार्थ भी दो प्रकारका होता है—(१) पूर्ण या विराट् चेतन हैं और ये भगवान् हैं स्वयं कृष्ण—‘कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्’। जीव—जुद्र चेतन हैं। ये भगवान्के विभिन्नांश तत्त्व तथा असंख्य हैं—‘सचानन्ताय कलाप्यते’ (श्वेताश्वतर)। शास्त्रोंमें श्रीकृष्ण और जीवोंके पारस्परिक सम्बन्ध वत्तानेके लिये सूर्य और उसकी किरणोंमें चमकने वाले जुद्र कणोंके परस्पर सम्बन्धका उदाहरण दिया जाता है। भगवान् श्रीकृष्णको चिन्मय सूर्य और जीवोंको चित्रकण कहा गया है। चित्रकण जीवका धर्म या स्वभाव ही कृष्णकी सेवा करना है। उनका यह धर्म उनके गठनके साथ-ही-साथ उपन्न होता है—ठीक आगमें दाहिका-शक्तिकी तरह। जैसे दाहिका-शक्तिके विना आगकी सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती, वैसे ही कृष्ण-सेवा से रहित जीवोंका जीवत्व नहीं है। वस्तुको छोड़कर धर्म और धर्मको छोड़कर वस्तु-का कोई अलग अस्तित्व रह नहीं सकता। तब तो वह वस्तु और धर्म विकृत हो जाता है। हाँ, तो जीवका धर्म कृष्णकी सेवा करना है, किन्तु स्वतन्त्र होनेके नाते जब कृष्णसेवासे विमुख होकर जानाप्रकारकी भोगोंकी कामनाएँ करने लगता है, उसी समय भगवान्की बहिरङ्गा शक्ति माया—जो निकट ही होती है, उसे भटक कर अपने जालमें आयद्ध कर लेती है। जैसे पिशाची पकड़नेसे मनुष्य की मति आच्छादित हो जाती है, उसी प्रकार कृष्ण-विमुख जीवका धर्म माया द्वारा आच्छादित हो जाता है। अब वह अपना और भगवान्का स्वरूप भूल जाता है तथा मायाका दास होकर मायिक संसारमें इधर-उधर भटकने लगता है। वह कभी राजा होता है, कभी प्रजा, कभी विप्र, कभी शुद्र, कभी सुखी, कभी दुःखी और कभी स्वर्गलोकमें जाता है तो कभी मर्यालोकमें। इस तरह संसारमें भटकते-भटकते यदि सौभाग्यवश किसी सन्तसे भेट

हो जाती है, तो उसका जीवन कृतार्थ हो जाता है। वह उनके सत्संगसे अपना सच्चा स्वरूप जानकर संसारसे बिरक्त हो पड़ता है। उसे अपनी वर्त्तमान अवस्था पर बढ़ा ही खेद होता है। वह रोते-रोते भगवान्‌के चरणोंमें प्रार्थना करता है—‘हे कृष्ण! मैं आपका नित्य-दास हूँ। किन्तु आपकी सेवा भूल-कर मैं अभागा न जाने कितने दिनोंसे मायाका सेवा करता हुआ भटक रहा हूँ। हे पतितपावन! दीनानाथ! मुझ दीनकी रक्षा करें। मुझे अपनी मायासे उद्धार कर अपनी सेवामें नियुक्त कर लें।’ कहणावरुणालय भगवान् उसकी करुण पुकार सुन-कर उसे शीघ्र ही अपनी दुम्तरामायासे पार कर देते हैं। वे उसे अपनी चित् शक्तिका बल प्रदान करते हैं, जिससे उसके प्रति मायाका आकर्षण धीरे-धीरे तीरा होता जाता है, और वह मायाको पीछे छोड़ता हुआ कृष्णकी ओर अपमर होते-होते अन्तमें उनके चरण-कमलोंको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। इस प्रकार सत्सङ्गमें लिया गया ‘श्रीकृष्णनाम’ इस दुरन्त संसार-को पार करनेके लिये एक मात्र अचूक उपाय है।’

यादवदास—‘बाबाजी! आप निस साधु-सङ्गकी बात कर रहे हैं, वे साधु भी तो इसी संसारमें रहते हैं और नाना प्रकारकी सांसारिक पीड़ाओंसे जर्जरित हैं। फिर वे दूसरे जीवोंका उद्धार कैसे कर सकते हैं?’

अनन्तदास—‘साधु भी इसी संसारमें रहते हैं—सत्य है, किन्तु साधु और मायाबद्ध जीवोंके संसारोंमें बहुत अन्तर है। दोनोंके संसार बाहरसे एक ही जैसे प्रतीत होते हैं, परन्तु भीतरसे उनमें बहुत अन्तर है। साधु सदा जगन्में ही रहते हैं, किन्तु असाधु व्यक्ति उन्हें पहचान नहीं पाते। इसीलिये सत्सङ्ग दुर्लभ होता है। मायाके जालमें फँसे हुए मनुष्य भी ही भागोंमें विभक्त हैं। कुछ लोग संसारके तुच्छ भोगोंमें लिप्त होकर संसारको खूब आदर करते हैं, और कुछ लोग संसारके तुच्छ सुखोंसे तृप्त न होकर अविकाधिक सुखके लिये विवेकका सहारा लेते हैं। एक विवेक रहित होता है और दूसरा विवेकयुक्त। कुछ लोग एकको विषयी और दूसरेको सुमुक्त भी कहते हैं।

यहाँ ‘मुमुक्षु’ शब्दका अर्थ—निर्भेद ज्ञानी नहीं समझना चाहिये। जो संसारके दुःखोंसे ऊबकर आत्म-तत्त्वका अनुसंदान करते हैं, उन्हें शास्त्रोंमें ‘मुमुक्षु’ कहा गया है। ‘मुमुक्षा’ का अर्थ ‘मुक्तिकी इच्छा’ है। जब मुमुक्षु मुमुक्षाका परित्यागकर भगवान् का भजन करता है, तब उस भजनको शुद्धभक्ति कहते हैं। शास्त्रोंमें मुक्तिको त्याग करनेका विधान नहीं है। कृष्णतत्त्व और जीवतत्त्वका ज्ञान होने पर मुक्ति होती है। श्रीभद्रभागवतमें कहते हैं—

‘रजोनिः सम-संख्यातः पार्विवैरिह जन्तवः।
तेषां ये केचनेहन्ते श्रेष्ठो वै मनुजादयः ॥
प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम ।
मुमुक्षणां सहस्रेषु कश्चिचन्मुच्येत् सिद्ध्यति ॥
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण-परायथः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥
(श्रीमद्भागवत ६।१४।३-४)

अर्थात्, इस जगत्के प्राणी पृथ्वीके धूलिकणोंके समान ही असंख्य हैं। उनमेंसे कुछ मनुष्य आदि श्रेष्ठ जीव ही अपने कल्याणकी चेष्टा करते हैं। उनमें भी संसारसे मुक्त चाहनेवाले तो विरले ही होते हैं और मोक्ष चाहने वाले हजारोंमें से मुक्त या सिद्धि लाभ तो कोई-सा ही कर पाता है। करोड़ों सिद्ध और मुक्त पुरुषोंमें भी वैसे शान्तचित्त महामुरुप-का मिलना तो बहुत ही कठिन है जो एकमात्र भगवान्‌के ही परायण हों। ऐसे सुदुर्लभ नारायणके भक्तोंमें भी कृष्ण-भक्त अतीव दुर्लभ हैं। कृष्ण-भक्त उनमेंसे होते हैं जो मुमुक्षाका परित्यागकर मुक्त हो चुके हैं। शरीर रहने तक कृष्ण-भक्त संसारमें रहते तो हैं, किन्तु उन लोगोंका संसार विषयी लोगोंके संसारसे सर्वथा अलग होता है। कृष्ण-भक्तोंकी स्थिति दो प्रकारकी होती है।’

यादवदास—‘आपने विवेकी मनुष्योंकी चार अवस्थाएँ बतलाई हैं, इनमेंसे किन-किन अवस्थाओंमें स्थित मनुष्योंके सङ्गको साधुसङ्ग कहते हैं?’

अनन्तदास—‘विवेकी, सुमुक्त, मुक्त और भक्त—ये विवेककी चार अवस्थाएँ हैं। इनमें विषयीलोगोंके

लिये विवेकियों और मुमुक्षुओंका सङ्ग करना लाभदायक होता है। मुक्तोंके दो विभाग हैं—(१) चिदरसके प्रति आप्रह रखनेवाले मुक्त और (२) निर्भेदमायावादी मुक्ताभिमानी। इनमें प्रथम प्रकारके मुक्तोंका ही सङ्ग करना अच्छा है। निर्भेद मायावादी (अपनेको मुक्त कल्पना करनेवाले) अपराधी हैं, इसलिये उनका संग करना सबके लिये अनुचित है। श्रीमद्भागवतमें ऐसे मुक्ताभिमानियोंको अत्यन्त हेय बतलाया गया है—

येऽन्येऽरविन्दात् विमुक्त - मानिन-
स्यद्यस्तभावाद्विशुद्ध - तुदयः ।
आरुष्ण कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पत्न्यव्यधाऽनाहत-सुप्तमदङ्ग्रयः ॥ [क]

चतुर्थ भगवद्भक्त दो प्रकारके होते हैं—ऐश्वर्यं भावयुक्त और माधुर्यभावयुक्त। इस तरह तो सभी भगवद्भक्तोंके सङ्गसे कल्याण ही कल्याण है, पर विशेषकर मधुररसके भगवद्भक्तोंके सङ्गसे हृदयमें विशुद्ध भक्तिरसका आविभाव होता है।'

यादवदास—'आपने भक्तोंको दो प्रकारकी अवस्थाएँ बतलायी हैं। कृपया इसे स्पष्ट कर बतलावें, जिससे मुझ मोटी बुद्धिवाले जैसे मनुष्य भी सुगमता से समझ सकें।'

अनन्तदास—'अवस्थितिके अनुसार भक्त दो प्रकारके होते हैं—गृहस्थभक्त और त्यागी भक्त।'

यादवदास—'गृहस्थभक्तोंका संसारसे क्या संबंध होता है ?'

अनन्तदास—केवल गृह निर्माण कर उसमें रहनेसे ही गृहस्थ नहीं हुआ जाता, बल्कि उपयुक्त पात्रोंके साथ विधिवत् विवाह कर घरमें निवास करनेवाले

[क] हे कमलनयन ! जो लोग आपके चरण-कमलोंकी शरण नहीं लेते तथा आपके प्रति भक्तिभावसे रहित होनेके कारण जिनकी तुदि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको मूढ़-मूढ़ मानते हैं। यास्तवमें तो वे बद्ध ही हैं। वे यदि बड़ी तपस्या और याधनका कष उठा कर कल्पित परमपद प्राप्त कर भी ले, तो आपके चरण-कमलोंकी अनादर करनेके कारण वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।'

'कलिमेण.....आशङ्का नहीं होती'—का तात्पर्य यह है कि अपतित होकर विष्णु और वैष्णवोंकी सेवा करना मनुष्यमात्रका कर्त्तव्य है, किन्तु सबको ही गृहस्थ होना पड़ेगा तथा कलिकालमें गृहस्थाश्रमके अतिरिक्त दूसरे आश्रम ग्रहणशील नहीं है—ऐसी शिक्षा देना ग्रन्थकारका उद्देश्य नहीं है। क्योंकि जो अतिशय राजसिक और

ही 'गृहस्थ' माने जाते हैं। ऐसे गृहस्थोंमें जो भक्तिका आचरण करते हैं, उनको 'गृहस्थ-भक्त' कहा जाता है। मायावद्ध जीव आँखोंसे रूप-रङ्ग देखते हैं, कानोंसे सुनते हैं, नाकसे सूँधते हैं, त्वचासे स्पर्श करते हैं तथा जीमसे रतास्वादन करते हैं। इन्हीं पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वे जड़ जगत्‌में प्रविष्ट होकर विषयोंमें आसक्त हो जाते हैं। वे विषयोंके प्रति जितने ही अधिक आसक्त होते हैं, प्राणानाथ श्रीकृष्णसे उतने ही दूर हटते जाते हैं। इसका नाम 'वहिमुख संसार' है। जो लोग इस तरह संसारमें लिप्त होते हैं, उन्हें विषयी कहते हैं।

गृहस्थ भक्त विषयी लोगोंकी तरह विषयोंमें केवल सुखकी ही खोज नहीं करते। उनकी सहायमिणी कृष्णकी सेविका होती हैं, पुत्र और कन्याएँ कृष्णके परिचारक और परिचारिकाएँ होती हैं। उनकी आँखें श्रीकृष्णकी श्रीमूर्ति एवं तदीय वस्तुओंका दर्शनकर तृप्त होती हैं, उनके कान हरिकथा और सन्त-चरित्रोंका अवण करते हैं, उनकी नासिका श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित तुलसी और सुगन्ध-त्रिव्योंका गन्ध लेती है, उनकी जिहा निरन्तर कृष्णनाम-मुद्दा और कृष्णनैवेद्य का आस्वादन करती है, उनकी त्वचा भक्तोंके अङ्ग-स्पर्शका सुख अनुभव करती है। उनकी आशा, क्रिया, कामना, अतिथि-सेवा, और देवसेवा—सब कुछ कृष्णसेवाके अधान होता है। उनका जीवन 'जीवोंपर दया,' 'कृष्णनाम,' और वैष्णव-सेवाके लिये ही होता है। अनास्त्रन रहकर विषयोंका भोग करना केवल गृहस्थभक्तों द्वारा ही सम्भव है। कलिमें गृहस्थ-वैष्णव होना ही उचित है, क्योंकि इनमें पतनकी आशङ्का नहीं होती#। भगवद्भक्तिकी

समृद्धि भी इसमें भलिभाँति हो सकती है। गृहस्थ भक्तके अन्तर्गत हैं—अतएव उनका संग मनुष्योंके वैष्णवोंमें अनेक तत्त्वज्ञ प्रहृष्ट(गुरु) भी हैं। गोसांईयों लिये बहुत ही लाभदायक है।

के सन्तान यदि शुद्ध वैष्णव हों तो वे भी गृहस्थ यादवदास—‘गृहस्थ वैष्णवोंको स्मार्त समाजके तामसिक प्रवृत्तिवाले हैं, जो विषय भोगोंमें अत्यन्त आसत्त होते हैं और जिनकी प्रवृत्तिमार्गमें ही रुचि होती है, वे इन विषयोंकी निवृत्तिके लिए ही विवाह आदि द्वारा गृहस्थ धर्मका पालन करेंगे। किन्तु सात्त्विक स्वभावके व्यक्ति—जो निवृत्ति पथके पथिक हैं—उन्हें विवाहादि करके पतित नहीं होना चाहिए।

आश्रमके विषयमें पश्चपुराणके पातःल खण्डके २३।४६ श्लोक में कहते हैं—‘वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः उमान्। विष्णुराश्र्यते पन्थाः नान्यत् तत्त्वोपकारणम् ॥’ अर्थात् वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेसे ही विष्णुकी पूजा हो जाती है और इसीसे वे संतुष्ट रहते हैं। यहाँ इस श्लोकमें ‘आश्रम-धर्म’ से केवलमात्र गृहस्थाश्रमका ही बोध नहीं होता, बल्कि उससे चारों आश्रमोंको लक्ष्य किया गया है। श्रीमद्भागवतमें आश्रमके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा गया है—‘गृहाश्रमी जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम! वज्रःस्थलादूने वासः संन्यासः शिरसि स्थितः ॥’

अर्थात् विराट् पुरुष भगवान्‌के जंघे (उस्थल) से गृहस्थाश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्याश्रम, वज्रःस्थलसे वानप्रस्थाश्रम और मस्तकसे संन्यासाश्रमकी उत्पत्ति हुई है। ये ही चार शाखाय आश्रम हैं। अपनी योग्यतानुसार उनमें से किसी भी एक आश्रमके अधीन रहकर विष्णुकी पूजा करना ही वैष्णवताका लक्षण है। आजकल इसके प्रत्यक्ष दृष्टान्तों का अभाव नहीं है। यहाँ तक कि उसी ग्रन्थमें—प्रेमदास, वैष्णवदास, अनन्तदास आदि उपदेशक पात्र—सभी गृहत्यागी या संन्यासी अथवा ब्रह्मचारी हैं। दूसरी बात यह है कि ग्रन्थकर्ता श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके अनुसरणकारी सभी गृहस्थ भक्त नहीं हैं, उनमें कोई ब्रह्मचारी है तथा गृहत्यागी सर्वश्रेष्ठ जगद्गुरु संन्यासी भी है। इसी पुस्तकके तीसरे अध्यायमें संन्यासको सर्वश्रेष्ठ आश्रम कहा गया है। सर्वशास्त्रशिरोमणि श्रीमद्भागवतका भी यही सिद्धान्त है—वर्णानामाश्रमाणाङ्ग जन्मभुम्यनुसारिणीः। आसन् प्रकृतयो नराणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः ॥ (जैव धर्म)। इसका तात्पर्य यह है कि ये आश्रम अपने जन्मस्थानके अनुसार उत्तम और मध्यम हैं अर्थात् संन्यास सर्वोत्तम आश्रम हैं तथा गृहस्थाश्रम सबसे अधम आश्रम है। ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ क्रमशः बीचवाले आश्रम हैं। यह जीवोंकी अनिवार्य स्वभावभूत नै संगिक अवस्था है।

जीवोंके स्वभाव, वृत्ति और क्रियाके अनुसार वर्णाँकी तरह आश्रमका भी विभाग किया गया है। नीच स्वभाववाले मनुष्य, जिनकी रुचि प्रवृत्ति मार्गकी ओर होती है, गृहस्थ होनेके लिए वाद्य है। नैषिक ब्रह्मचारी भगवान्‌के हृदय-धन हैं। भगवान्‌के वज्रःस्थलसे वानप्रस्थ व्यापियोंका आविर्भाव होता है और मस्तकसे समस्त सद्गुणों के आधार संन्यासी उत्पत्ति होते हैं। अतएव गृहस्थकी अपेक्षा ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी, तीनों ही श्रेष्ठ हैं। जब तक निवृत्तिमार्गकी रुचि हृदयमें पैदा न हो जाय, तब तक इन तीनों उत्तम आश्रमोंमें प्रवेश करने का अधिकार नहीं होता। मनु संहिताका कहना है—प्रवृत्तिरेणा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफलाः। श्रीमद्भागवत भी उसका समर्थन करते हैं—‘लोके व्यवायामिष-मर्यसेवा नित्या हि जन्मोन्हि तत्र चोदना। व्यवस्थितिस्तेषु विवाह-यज्ञ-सुराप्रहरासु निवृत्तिरिष्टा ॥’

दूसरे-दूसरे अनेक शास्त्रोंमें निवृत्तिमार्गकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है। श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने इसी पुस्तकके १० वें अध्यायके अन्तमें श्रीमद्भागवतके उपर्युक्त श्लोकका अवलम्बन कर लिखा है—

‘पशुवधके लिए प्रोत्साहित करना शास्त्रोंका तात्पर्य नहीं है ‘मा हिंस्यात् सर्वाणि भूतानि’—इस वेद-वाणी द्वारा पशु-हिंसाका नियेव किया गया है। मनुष्यका स्वभाव जब तक राजसिक और तामसिक रहता है, तब तक मैथुन, मांस और मर्यकी ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। वे जोग तत्त्वकार्योंके लिए वेदकी आज्ञाकी

अधीन रहना पड़ता है; यदि ऐसा न हो, तो समाजमें उन्हें बहुत ही कष्ट सहना पड़ता है। ऐसी अवस्थामें शुद्धभक्तिका पालन कैसे किया जा सकता है?

अनन्तदास—‘पुत्र और कन्याके विवाह और पितृगणके आद्वके लिये किया तथा अन्यान्य कई बातोंमें गृहस्थ वैष्णवोंका समाजसे आवश्य ही संबंध

अपेक्षा नहीं रखते। वैदोंका तात्पर्य यह है कि मनुष्य सात्त्विक वृत्तका अवलम्बनकर जब तक प्राणि-हिंसा, मैथुन और मर्यादा परिवार नहीं करता, तब तक इन प्रवृत्तियोंको संकुचित करनेके लिए वह विवाह द्वारा खोसंग, यज्ञमें पशु-बध और विशेष-विशेष अवसरों पर मर्यादा कर सकता है। इन उपायोंसे उसकी प्रवृत्ति संकुचित होने पर वह क्रमशः इन क्रियाओंसे निवृत्त हो जायगा। इसलिए कलिकालमें जीवोंको प्रवृत्तिमार्गसे हटा कर निवृत्तिमार्गकी ओर ले जानेके लिए गृहस्थाश्रमकी आवश्यकता है। ग्रन्थकारके उक्त वाक्यका अर्थ यह कहापि नहीं है कि उत्तम आश्रमोंके अधिकारी व्यक्तियोंको भी गृहस्थ होनेकी आवश्यकता है। ठाकुरने विवाहका उद्देश्य इस प्रकार लिखा है—‘विवाहके समय संतानकी कामना या प्रजापतिकी उपासना न कर केवल ऐसी भावना करनी चाहिए कि—मैं एक ऐसी कृष्णदासीका संग्रह कर रहा हूँ, जो मुझे कृष्णकी सेवामें सहयोग दे सकेगी। ऐसी भावना भक्तिके अनुकूल होती है’ (जैवधर्म)। अतएव संतानकी कामना न कर जो विवाह करेंगे, वे ही सच्चे गृहस्थ-देवताव हो सकते हैं। जहाँ अपनी खोके प्रति कृष्णदासीकी भावना होती है, वहाँ उसके प्रति भोगकी कामनाका अकाश नहीं होता, प्रत्युत पूज्यमाव होता है। हाँ, यह बात ठीक है कि “पुत्रार्थं क्रियते भार्या” आदि वचनोंसे संतान-कामनाकी भी विधि देखी जाती है। किन्तु यहाँ पुत्रके वदले ‘कृष्णदास’ के आविर्भावकी ही कामना समझनी चाहिए—प्राकृत पुत्र-या संतानकी कामना नहीं। क्योंकि भगवान्नाम ग्रहण करने वाले वैष्णवोंके लिए पुत्रामक नरकमें जाने की कोई संभावना न होनेके कारण उनको कृष्णदासके अतिरिक्त पुत्रकी कामना नहीं होती।

साधारणत: बद्धजीव प्रवृत्तिमार्गमें विचरण करते समय अपनी काम-प्रवृत्तिको चरितार्थं करनेके लिए खी-संभोग करता है, और कल स्वरूप संतान दैदा होते हैं। यही कारण है कि आजकल मनुष्य कामुक होते जा रहे हैं। “आत्मवत् जायते पुत्रः”—यही साधारण न्याय है। श्रीठाकुर भक्तिविनोदने जगत् के समस्त जीवोंकी कल्याण-कामनासे विशेषकर चण्डीदास और दमयन्ती जैसी मनोवृत्त वाले लोगोंको लक्ष्यकरके ही ऐसी शिक्षा दी है। गृहस्थ-आश्रम सबसे अधम आश्रम है। वास्तवमें पूर्व-जन्मकी सुकृतिके प्रभावसे जो नहात्मालोग स्वभावसे ही निवृत्तिमार्गमें विचरण करते हैं, वे कभी भी विवाह द्वारा संसारमें प्रवेश कर पतित न होंगे। उल्लत व्यक्तियोंके लिए पतन होनेका अवकाश रहता है, किन्तु पतितोंको पतनका स्थान कहाँ? वे नैषिक ब्रह्मचारी और संन्यासी जो उपर्युक्त उपदेशोंका रहस्य नहीं समझ पाते, उन्हीं वचनोंकी दुहाई देकर यदि ब्रह्मचर्य और संन्यास परिवार पूर्वक अवैध भावसे अपनी शिक्षा, गुह-भग्नि अथवा किसी दूसरी खीसे विवाह करें या ऐसे कामोंके लिए वहामर्दी में अथवा अनुमोदन करें, तो उनके जैसा शोचनीय, धृणित, नीच और पालंडी व्यक्ति विश्वके इतिहासमें विरले ही मिलेंगे। दूसरी तरफ श्रीमद्भागवत, हरिवंश और श्रीचैतन्य भागवत आदि शास्त्रोंमें वर्णित श्रगाल वासुदेव जैसे अनधिकारी व्यक्तिके लिए ब्रह्मचारी या स्यामी अथवा संन्यासीका बाना पहन कर—उनके आचरण का अनुकरण कर अपनेको उन आश्रमस्थ महापुरुषोंके साथ समान समझना अत्यन्त धृशास्पद है। अतएव इन निम्नस्तरीय प्रवृत्तिमार्गके लोगों को पहले ही विवाहादि द्वारा वैचावसे अपनी शोचनीय काम प्रवृत्तिका दमन करना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि जीवमात्रको निवृत्ति मार्गपर ले जाना ही शास्त्रोंका एकमात्र उद्देश्य है।

कोई-कोई ब्रह्मवैवत् पुराणके कृष्ण स्वरूप के ‘अश्वमेघ’ गवालमें संन्यासं पलपैतृकम्। देवरेण सूतोत्पत्ति कलौ पञ्च विवर्जयेत्।’ इलोकके आधार यह कहना चाहते हैं कि कलियुगमें संन्यास ग्रहण करना वर्जित है। किन्तु इस इलोकका एक गृह रहस्य है। इसके द्वारा सब संन्यासोंका निषेध नहीं किया गया है, क्योंकि समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता श्रीरामानुज, श्रीमध्ब, श्रीविष्णुस्वामी आदि आचार्यगण और आचार्यकुलसुकुटमणि गौरभक्त छः गोस्वामी

रहता है। परन्तु जहाँ तक काम्यकर्मोंका प्रश्न है, उन्हें काम्य कर्म नहीं करना चाहिए। शरीर-यात्रा-निरपेक्ष बतलाने हैं, वे भी पराधीन होते हैं। जो अपनेको निरपेक्ष बतलाने हैं, वे भी पराधीन होते हैं। बीमार होने पर श्रीष्ठ-सेवन, भूख लगने पर स्वाद्य-संप्रदाह, शीतसे बचनेके लिए वस्त्र-संप्रदाह, तथा धूप और वर्षामि रक्षाके लिए घर-बार आदिको अपेक्षा प्रत्येक देहधारीको होती है। निरपेक्ष होनेका तात्पर्य अपनी आवश्यकताओंको संकोच करना मात्र है। बास्तवमें शरीर रहते कोई भी निरपेक्ष नहीं रह सकता। जहाँ तक अधिकसे अधिक निरपेक्ष रहा जाय, उतना ही अच्छा है और भक्तिका पोषक है।

पूर्वोक्त सारे कर्मोंका सम्बन्ध कृष्णके साथ जोड़ देनेसे उनका दोष जाता रहता है। जैसे—विवाहके समय संतानकी कामना या प्रजापतिकी उपासना न कर यदि केवल ऐसी भावना करे कि मैं एक ऐसी कृष्ण-दासीका संप्रदाह कर रहा हूँ जो मुझे कृष्णकी सेवामें

सहयोग दे सकेगी, तो ऐसी भावना भक्तिके अनुकूल होती है। विषयोंमें आसक्त आत्मीय या अपना पुरोहित आदि जो कुछ भी क्यों न कहें, मनुष्यको अपने ही संकल्पोंका फल मिलता है। पितृ-आद्वाके दिन श्रीकृष्णको भोग लगाये हुए प्रसादके पिण्डसे पितृगणका श्राद्ध करना और ब्राह्मण-वैष्णवोंको भाजन करवाना गृहस्थ वैष्णवोंके लिए भक्तिके अनुकूल होता है। समस्त स्मार्त क्रियाओंमें भक्ति मिश्रित कर देनेसे कर्मका कर्मत्व जाता रहता है। शुद्ध भक्तिके साथ वैष्णवकर्म करनेसे भी वह भक्तिके प्रतिकूल नहीं होता। व्यावहारिक क्रियाओंको अनासक्त और विरक्त भावसे करना चाहिये। पारमार्थिक क्रियाओंको भक्तोंके साथ करना चाहिए। ऐसा होनेसे कोई दोष नहीं होता। देखिये, श्रीमन्महाप्रभुके अधिकांश पार्षद गृहस्थभक्त ही थे। बहुतसे प्राचीन भक्त राजर्षि और देवर्षि थे। ग्रन्थ, प्रह्लाद और पाण्डव आदि गृहस्थ भक्तोंको भी जगन्में पूजनीय समझना चाहिए। (कमशः)

मथुरा श्रीरामलीला अभिनयमें दुर्घटना

गत ५ अक्टूबर रात ६ बजे जब श्रीरामलीला अभिनयकारियोंकी श्राराम वरात नया वाजारसे गुजर रही थी, कि श्रीद्वारकाधीशजीके मन्दिरके निकट एक तिमंजिले मकानकी गौख और बाहरी दीवारका कुछ भाग एकाएक गिर जानेसे १२ व्यक्तियोंकी मृत्यु हो गई और लगभग ५० व्यक्ति घायल हो गये। इस दुर्घटनासे शहरमें सर्वत्र शोक छाया हुआ है। हम दुःखी परिवारोंके दुःखमें सहानुभूति प्रकाश करते हैं।

श्रीश्रीवज-द्वारकाधामकी परिक्रमा

श्रीभागवत-पत्रिका, श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ तथा श्रीगौड़ीय ब्रेदान्न ममितिके अन्यान्य मठोंके प्रतिष्ठाता और नियामक परमहंस स्वामी उमविष्णुपाद १०८श्री-श्रीमद् भक्तिग्रन्थान केशवजी महाराज आगामी २५ अक्टूबरको संरक्षित ट्रैन द्वारा श्रीवज-धामके यात्रियोंके साथ श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ मथुरामें पदार रहे हैं। उस दिनसे यहाँ १५ दिनोंतक प्रतिदिन सुबह-शाम पाठ, व्रतृता, प्रवचन, संकीर्तन और धाम-परिक्रमाका कार्य-क्रम रहेगा।

ये सभी व्यापी या संन्यासी थे तथा कलिकालमें ही हुए हैं। आज भी संन्यासकी शुद्ध धारा पूर्ववत् चलती आ रही है। तब कलियुगमें संन्यास-वर्जनकी जो बात कही गयी है, उसका तात्पर्य यह है कि—‘आचार्य शंकर द्वारा प्रवचित ‘सोऽहं,’ अहं ब्रह्मस्मि’ आदि अवैष्य चिन्ता-प्रसूत ‘एकदण्ड संन्यास’ ग्रहण करना अनुचित है, अतः उसीका निषेध किया गया है। त्रिदण्ड संन्यास ही प्रकृत सनातन संन्यास है। यह सब समय ग्रहण किया जा सकता है। कहीं-कहीं त्रिदण्ड संन्यासको बाध्यतः एकदण्डके रूपमें भी देखा जाता है। इस श्रेणीके एकदण्डी यति-महाजन सेव्य, सेवक और सेवकोंके प्रतीक त्रिदण्ड संन्यासकी नित्यता स्वीकार कर शंकर द्वारा प्रवचित एकदण्ड संन्यासको सम्पूर्ण अवैष्य मानते हैं। अतएव स्मार्त आदापि द्वारा संगृहीत उक्त श्लोकके आधार पर भी निवृत्ति मार्गीय साधकोंको संन्यास ग्रहण करना ही युक्तियुक्त प्रसादित होता है।